साहित्य

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल

विष्णुदत्त राकेश
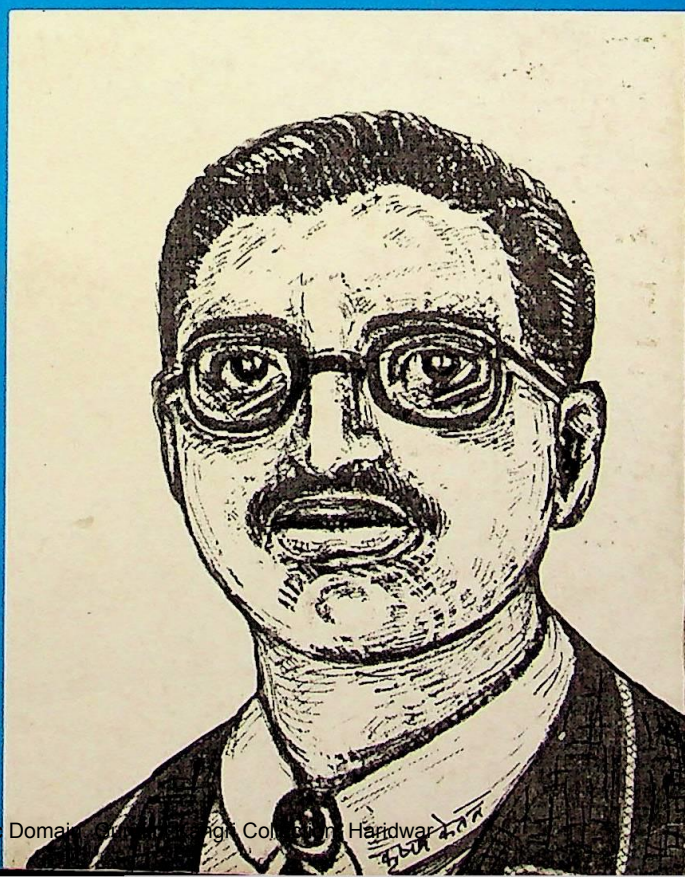
भारतीय
साहित्य के
निर्माता

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

आदरणीय कुलपति श्री स्वतंत्रकुमार जी को
सेवा में,
विष्णुदत्त राकेश
२४-१-०२

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान् बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

लेखक

विष्णुदत्त राकेश

साहित्य

साहित्य अकादेमी

Pitambar Dutt Barthwal : a monograph in Hindi on the Modern Hindi Critic and Author, written by Vishnudutt Rakesh, Sahitya Akademi, New Delhi (2001) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 2001 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली—110001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली—110001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई—400014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स.,
डायमण्ड हार्बर रोड, कलकत्ता-700053

सी आई टी कैम्पस, टी.टी.टी. आई पोस्ट तारामणि, चेन्नई—600113

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर—560001

ISBN : 81-260-1217-X

मूल्य : 25 रुपये

शब्द संयोजक : लियोकॉम सिस्टम्स, चर्खेवालान, दिल्ली—110006
मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली—110032

अनुक्रम

निवेदन

हिन्दी के पहले डी.लिट्. तथा हिन्दी शोध और सन्त साहित्य के उद्धारक डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल युग निर्माता लेखक हैं। उनकी शोध सामग्री का उपयोग हिन्दी अनुसन्धायकों ने ही नहीं वरन् भारतीय भाषाओं के सन्त साहित्य विवेचकों ने भी किया है। हस्तलेखों के निरीक्षण, विषयवार वर्गीकरण तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री के परीक्षण और संगतिकरण में उनकी भूमिका को नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। भक्तिकाव्य की अन्तर्वर्ती धाराओं को स्पष्ट करने तथा निर्गुणकाव्य के प्रेरणा स्रोतों का पता लगाने में उन्होंने विशेष परिश्रम किया था। नाथ सम्प्रदाय, निरंजनी सम्प्रदाय तथा स्वामी रामानन्द सम्बन्धी विशेष जानकारी के कारण तथा हिन्दी साहित्येतिहास की विलुप्त कड़ियों को खोजने और क्रमबद्धता स्थापित करने के कारण वह सदैव स्मरण किए जाएँगे।

डॉ. बड़थ्वाल एक उच्चकोटि के अन्वेषक ही नहीं, सफल प्राध्यापक भी थे। उनके प्रमुख शिष्य डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन ने मुझे 19 अगस्त, 2000 के पत्र में लिखा है—''मैं जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम.ए. हिन्दी का विद्यार्थी था तब मुझे प्रात:स्मरणीय डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का विद्यार्थी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे, जो आधुनिक कवि और समीक्षा के सम्बन्ध में और आचार्य केशव प्रसाद मिश्र भाषा विज्ञान का अध्यापन करते थे। उस समय डॉ. बड़थ्वाल की बड़ी प्रतिष्ठा थी क्योंकि वे हिन्दी के प्रथम डी.लिट्. थे। सौभाग्य से मुझे उनसे कबीर और निर्गुण सन्तों के सम्बन्ध में पढ़ने का सुयोग सुलभ हुआ था। वे बड़े धीरे-धीरे प्रत्येक पद और शब्द की व्याख्या करते हुए कबीर के रहस्यवाद ओर उनके सबद और साखी का विवेचन किया करते थे। कबीर के सम्बन्ध में उनकी उस समय इतनी प्रतिष्ठा

थी कि नागरी प्रचारिणी सभा में उन्होंने कबीर पर लगभग एक सप्ताह व्याख्यान दिया था, जिसको सुनने के लिए काशी के समस्त शीर्षस्थ विद्वान एकत्र हुए थे। अध्यक्षता स्वनामधन्य बाबू श्यामसुन्दर दास करते थे। वस्तुतः कबीर पढ़ाते समय वे कबीरमय हो जाते थे। उनके जैसा प्रबुद्ध प्राध्यापक प्राप्त कर मैं स्वयं को गौरवान्वित मानता था। बाबू श्यामसुन्दर दास उन्हें मानते थे। उन्हीं ने उनको नागरी प्रचारिणी सभा में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और शोध कार्य के सर्वेक्षण का अधिकारी नियुक्त किया था। योगमार्गी सन्तों और कबीर के रहस्यवाद पर उनके विस्तृत विवेचन की चर्चा अंग्रेज़ी साहित्य के विद्वानों और प्रान्तीय भाषाओं में उस समय विशेष चर्चित हुई थी।''

अस्तु, आज हम यदि डॉ. बड़थ्वाल के अवदान से नई पीढ़ी को परिचित कराने का उपक्रम करते हैं तो इसे राष्ट्र भारती के मन्दिर में किए जाने वाले दीपदान का महत्त्व मिलना चाहिए। पराधीन भारत में अकादमिक दृष्टि से डॉ. बड़थ्वाल का शोधकार्य हिन्दी का जयघोष था।

प्रस्तुत आलेख में डॉ. बड़थ्वाल के व्यक्तित्व और कृतित्व पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इस अवसर पर मैं हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. नामवर सिंह, डॉ. रणजीत साहा, डॉ. उमाशंकर सतीश तथा डॉ. सत्यदेव मिश्र को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिनके सहयोग ने मुझे हिन्दी सन्त साहित्य के इस युगपुरुष आलोचक को स्मरण करने का पुण्य-सुयोग मिला।

—विष्णुदत्त राकेश

ईशान, भगवन्तपुरम
पो. कनखल-249408
हरिद्वार (उत्तरांचल)

1

जीवनी, व्यक्तित्व और प्रेरणा

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का जन्म 13 दिसम्बर, 1901 को लैंसडाउन से लगभग तीन मील दूर बसे कौड़िया पट्टी के पाली नामक ग्राम में एक गढ़वाली विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम पण्डित गौरीदत्त बड़थ्वाल तथा माता का नाम श्रीमती रुक्मिणी देवी था। पिताश्री कर्मकाण्ड तथा ज्योतिष के विद्वान् थे। कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य परिवार के प्रमुख आधार थे। पौराणिक परिवार के कारण शुद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक परिवेश में आपका पालन-पोषण हुआ। उपनयन संस्कार हो जाने पर बचपन में ही *लघुसिद्धांतकौमुदी, अमरकोश, शीघ्रबोध तथा होड़ा चक्र* आदि पुस्तकें आपने कण्ठस्थ कर लीं। पिताजी *श्रीमद्भागवत* के पण्डित थे और भागवती पण्डितों में अपना प्रमुख स्थान रखते थे। यही कारण है कि बड़थ्वालजी की रुचि भी *गीता, उपनिषद्, रामायण* तथा *श्रीमद्भागवत* के अध्ययन में उत्पन्न हुई। इसके बाद श्रीनगर गढ़वाल के शासकीय हाई स्कूल में शिक्षार्थ प्रविष्ट हुए। कुछ वर्षों के बाद आपको लखनऊ जाना पड़ा और वहाँ कालीचरण हाई स्कूल में नियमित छात्र के रूप में सन् 1920 में हाईस्कूल परीक्षा उतीर्ण की। उस समय वहाँ के मुख्याध्यापक पद पर बाबू श्यामसुन्दर दास विराजमान थे। क्योंकि बाल्यावस्था में ही बड़थ्वाल जी के पिताश्री का निधन हो गया था, अतः आपके पालन-पोषण का दायित्व ताऊजी के कंधों पर आ पड़ा। उन्होंने यथाशक्ति सहायता की। मानो, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि छप्पर-मड़य्या में ही सरस्वती अयाचक होकर सिद्ध होती है। श्रम, सदाचार, विपत्ति, विपन्नता और साधना मानो उनके ज्ञान-विज्ञान-स्नात दुकूल को चार चाँद लगाया करते हैं, छात्रावस्था में बाबू

श्यामसुन्दर दास के हिन्दी प्रेम और साहित्यसृजन ने प्रतिभाशाली छात्र पीताम्बरदत्त को प्रभावित किया।

हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर इंटरमीडिएट के लिए आपने अपना नाम डी.ए.वी. कॉलेज कानपुर में लिखाया। कानपुर प्रवास में आपका संपर्क अन्य गढ़वाली छात्रों से हुआ। निश्चय हुआ कि पर्वतीय छात्रों का संगठन बनाया जाए और एक अंग्रेज़ी में 'हिलमैन' नामक पत्र निकाला जाए। यह दायित्व बड़थ्वाल जी ने बखूबी सँभाला। वह जितनी अच्छी हिंदी और संस्कृत लिखते थे, अब अंग्रेज़ी भी उतनी ही अच्छी और अबाध गति से लिखने लगे। सन् 1922 में इंटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण कर अस्वस्थता के कारण अपने पैतृक गाँव लौट आए। सन् 1922 से 1924 तक के दो वर्ष आपके लिए घोर संकट के सिद्ध हुए। अपने पिता के निधन की क्षतिपूर्ति आपने जिन ताऊ जी की स्नेहिल छाया में की थी, अब नियति ने उनका यह एकमात्र सहारा भी छीन लिया। वह अनाथ अनुभव करने लगे। उनकी जीवनेच्छा तथा साहित्यिक महत्त्वाकांक्षा का सूना आकाश मानो आँसुओं के नक्षत्र-मण्डल से भर गया। शोकार्त वह 'अम्बर' उपनाम से कविताएँ लिखने लगे। रीते घट की तरह अंबर उनके जीवन का पर्याय बन गया। इन्हीं दिनों श्री गिरिजादत्त नैथाणी द्वारा संपादित 'पुरुषार्थ' मासिक का आपने बड़ी दक्षता के साथ संपादन किया। यह बड़थ्वाल ही थे कि जिनके अथक पुरुषार्थ ने 'पुरुषार्थ' को उत्तराखंड का सर्वाधिक लोकप्रिय हिंदी समाचार-पत्र बना दिया। वह अपने व्यक्तिगत दुःख को भूलकर लोक सेवा तथा साहित्य-सर्जना में जुट गए। बड़थ्वाल जी ने लिखा भी है—"वस्तुतः दुःख ही एक ऐसी स्थिति है जो प्राणी-प्राणी को सहानुभूति के क्षेत्र में पहुँचाकर प्रेम के सूत्र में बाँध देती है।" करुणा की प्लावनकारिता ने भवभूति को 'एको रसः करुण एव' कहने के लिए बाध्य कर दिया था। मन को निखारने के लिए, कमल बनाने के लिए दुःख में नहाना ज़रूरी है।

निजी जीवन के संकटों से उद्भूत सहानुभूति, संवेदना और करुणा ने ही उन्हें पर्वतीय जनों के प्रति अखण्ड सेवा-भाव से भर दिया। गढ़वाल के भीषण अकाल ने उन्हें भीतर तक झकझोर दिया। उन्होंने अपने संगी-साथियों की टोली बनाकर अकाल राहत का कार्य किया। भूखे, असहाय, निरीह तथा ज़रूरतमंद लोगों की सच्ची सेवा की। यह उनकी वाचिक संवेदना नहीं, चारित्रिक करुणा थी, जो उन्होंने जीवन की पाठशाला में दुःख के कठोर आचार्य से श्रद्धापूर्वक प्राप्त की थी। यहीं से 'न दैन्यं न पलायनम्' का सूत्र उनके अन्तस में उभरा और 'पुरुषार्थ' में उनकी 'हे हृदय' नामक कविता प्रकाशित हुई, उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत

की जाती हैं—

अन्यायियों का वज्र बनकर कर विभंजन हे हृदय,
पर दीनजन दुःख ताप सम्मुख मोम बन तू हे हृदय,
सम्राट तू बन, इन्द्रियाँ हों तव प्रजाजन हे हृदय,
सत्कार्य में संलग्न सतत भूल तन-मन हे हृदय।

यहाँ उन्हें अपने प्यारे गुरुदेव श्यामसुन्दर दास जी की याद आई। वह काशी चल दिए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् 1926 में बी.ए., सन् 1928 में एम.ए. (हिन्दी, प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान) तथा सन् 1929 में एल.एल.बी. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सन् 1930 में बाबू श्यामसुन्दर दास ने इन्हें हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर नियुक्त करा लिया। उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ अत्यन्त सुखकर हुआ। अपनी योग्यता के बल पर अध्यापन, सभा का शोध—निरीक्षण कार्य, गुरुदेव के साथ हिन्दी पाठ्यपुस्तकों का लेखन-सम्पादन, पाण्डुलिपियों का तालिका निर्माण, शोध संचालन तथा स्वयं की डी.लिट्. उपाधि के लिए शोध सामग्री का संकलन और लेखन, उनकी दिनचर्या के प्रमुख अंग थे। कब भोर की पहली किरण ने उजेला बिखेरा? कब प्रचण्डभानु जले तथा कब वह आग का गोला नीलाकाश के गहन समुद्र में जा गिरा, उन्हें पता ही नहीं चलता। वह दिन-रात काम में लगे रहते। सन् 1933 में उन्हें डी.लिट्. की उपाधि प्राप्तं हुई। हिन्दी जगत् के वह पहले आचार्य थे जिन्हें यह सर्वोच्च उपाधि मिली। हिन्दी जगत् ने उन्हें सिर आँखों पर ले लिया। श्री भक्तदर्शन ने लिखा है—"शुद्ध हिन्दी साहित्य के विषय को लेकर डॉक्टरेट पाने वाले ये सर्वप्रथम व्यक्ति थे, अतः सर्वत्र इनकी प्रसिद्धि फैल गई। सभा-सम्मेलनों के अतिरिक्त अध्यापक के रूप में भी इन्होंने अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की। ये प्रतिदिन शिक्षार्थियों के समक्ष हिन्दी साहित्य के क्रम, विकास और उसके गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डाला करते थे। इनकी अध्यापन शैली प्रभावपूर्ण और मनोमुग्धकर थी। इनके भाषणों के नोट्स लेकर कई शिक्षार्थियों ने बाद में डॉक्टरेट प्राप्त की।"

व्यक्तित्व और प्रेरणा

डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल हिमालय के वरद पुत्र थे। पर्वतपुत्र होने का गौरव उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। गढ़वाल की प्राकृतिक सुषमा तथा संघर्षपूर्ण जीवन ने उनके कोमल-कठोर व्यक्तित्व का निर्माण किया था। किशोरावस्था से लेकर अन्तिम समय तक वह पर्वतीय अंचल की समस्याओं के प्रति सजग रहे तथा

शौर्य, पाण्डित्य, लोकसेवा, लोककला और अदम्य साहस के क्षेत्र में गढ़वाल निवासियों द्वारा किए गए योगदान पर प्रकाश डालते रहे। श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने अपने *दिवंगत हिन्दी* सेवी ग्रन्थ में इसे लक्षित करते हुए लिखा है—'आपने जहाँ सन् 1922 में कानपुर में अपने छात्रजीवन में 'हिलमैन' नामक अंग्रेज़ी मासिक पत्र का सम्पादन किया था वहाँ अपने श्रीनगर के छात्रजीवन में आपने 'मनोरंजनी' नामक एक हस्तलिखित पत्र भी सम्पादित किया था। सन् 1921 में आपने श्रीनगर में नवयुवक सम्मेलन की स्थापना के लिए बहुत प्रयास किया था। आप जहाँ गढ़वाल साहित्य परिषद् की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहे थे वहाँ आप लैंसडाउन से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कर्मभूमि' के संस्थापक भी रहे थे। उन दिनों इस पत्रिका का सम्पादन श्री भक्तदर्शन किया करते थे। आपने उत्तराखण्ड की अनेक दुर्गम यात्राएँ करके 'उत्तराखण्ड में सन्तमत तथा सन्त साहित्य' नामक अपना एक शोध लिखा था।'[1]

गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन की स्थापना का उद्‌देश्य था, निश्छल तथा साधनहीन परिश्रमी नवयुवकों को एकता के सूत्र में बाँधकर सदाचार का उपदेश करना, जातीय शिक्षा देना तथा सच्चे भावी नागरिक बनाने का यथाशक्ति उद्योग करना। इस सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन 20 मई, 1922 को दुगड्डा में हुआ। सम्मेलन का लक्ष्य था, गढ़वाल के अकाल पीड़ित स्त्री-पुरुषों को सहायता पहुँचाना। उन्हीं की प्रेरणा से पच्चीस स्वयंसेवक रात-दिन इस मंच के माध्यम से अकाल सहायता कार्य करते रहे।

डॉ. बड़थ्वाल को साहित्यिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्य करने की प्रेरणा श्री तारादत्त गैरोला, श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी तथा श्री गिरिजादत्त नैथाणी से मिली। गैरोला जी सन् 1914 से 1920 तक प्रान्तीय कौंसिल के लिए कुमाऊँ से मनोनीत माननीय सदस्य रहे थे। कुली-बेगार प्रथा के उन्मूलन के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयत्न सदा याद किए जाएँगे। गैरोला उच्चकोटि के साहित्यकार भी थे। पेशे से वकील होते हुए भी जहाँ 'गढ़वाली' के सम्पादन से उनकी छवि एक जुझारू पत्रकार की बनी, वहीं 'सदेई' जैसे पाँच परिच्छेद तथा एक सौ पच्चीस पदों वाले करुण रस प्रधान काव्य की रचना से उनके लोक तथा सुजन काव्यकार की छाप भी साहित्यिकों के हृदय पर अंकित हो गई। अंग्रेज़ी भाषा में लिखी इनकी दूसरी पुस्तक *हिमालयन फ़ोकलोर* प्रसिद्ध है। इन्होंने ही एटकिंसन की इस मान्यता

---

1. *दिवंगत हिन्दी सेवी*, भाग-2, पृष्ठ 526

का सप्रमाण खण्डन किया था कि गढ़वाल के आदिम निवासी खसिया नहीं डोम हैं। श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी को तो गढ़वाली कविता का कोकिल ही कहा जाता है। इन्हें साहित्यिक प्रश्रय श्री गैरोला जी से मिला। गिरिजादत्त नैथाणी, गढ़वाल के प्रथम पत्र सम्पादक थे। सन् 1902 में इन्होंने 'गढ़वाल समाचार' तथा सन् 1905 में देहरादून से 'गढ़वाली' पत्र निकाला। सुप्रसिद्ध हिन्दी आलोचक पण्डित पद्म सिंह शर्मा की *सतसई संहार* पुस्तक इन्हीं के प्रेस में छपी थी। सन् 1917 में इन्होंने 'पुरुषार्थ' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस विवरण को देने का उद्देश्य इतना ही है कि यदि 'पुरुषार्थ' पत्र न होता तो डॉ. बड़थ्वाल की सर्जनात्मक प्रतिभा का उन्मेष न होता। आलोचक से पूर्व वह कवि और पत्रकार थे। उनका कविनाम अम्बर था। इन पत्रों में उन्होंने व्योमचन्द्र तथा विलोचन उपनामों से गद्य लिखा। इनकी 'तिलक वन्दना' नामक चर्चित कविता 'पुरुषार्थ' में ही प्रकाशित हुई थी—

जय जय तिलक बाल गंगाधर भाल तिलक भारत के,
जय निर्भीक हृदय, धर्मध्वज, प्रिय त्राता भारत के,
दुखिया भारत के दुखहर्ता तेजपुंज जय जय जय,
राष्ट्र बेलि के पालनकर्ता, ज्ञान कुंज जय जय जय,
तैंतीस कोटि जन भारत के इक स्वर जिसे सराहें,
भारत माँ बिछोह में जिसके छोड़ रही है आहें।
देश हितार्थ विषम दुख को भी सुख स्वर्ग सम मानें,
जयति स्वाभिमानी द्विज कुलमणि जिसके गुण जग जानें।
स्वातंत्र्य मन्त्र फिर फूँका मोहित वीर जगाए,
भारतीय हृदयों से भगवन् भाव भयादि भगाए।
जन्म सिद्ध अधिकार हमारा है स्वराज्य सिखलाया,
लोकमान्य! भूले भटकों को सीधा पथ दिखलाया।

तारादत्त गैरोला ने जहाँ बड़थ्वाल जी को सन्त साहित्य और विशेषतः गढ़वाल के सन्त साहित्य, लोक साहित्य तथा ललित कलाओं से परिचित कराया, वहीं रतूड़ी जी तथा नैथाणी जी ने उन्हें राष्ट्रभाषा ह्रिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी। गैरोला जी दादू वाणी साहित्य के विद्वान् थे। अंग्रेज़ी में उन्होंने दादू की रचनाओं का अनुवाद वैसे ही किया है, जैसे गुरुदेव ने कबीर के पदों का किया था। सन्त साहित्य के अध्ययन की साध यहीं से बड़थ्वाल जी के हृदय में उत्पन्न हुई। राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान के रूप में ही उन्होंने हिन्दी में शोध किया। वह अंग्रेज़ी के मर्मज्ञ थे, चाहते तो अंग्रेज़ी साहित्य में ही शोधोपाधि अर्जित कर सकते थे। ऐसा करने पर

उन्हें नौकरी भी अच्छी मिलती पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् उपकुलपति आचार्य आनन्द शंकर बापू भाई ध्रुव जी ने उनके शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति पर आपत्ति की थी—कहीं हिन्दी में भी डॉक्टरेट उपाधि मिल सकती है? ध्रुव जी साधारण पुरुष नहीं थे। गाँधी जी उनकी विद्वत्ता का असाधारण सम्मान करते थे। संस्कृत साहित्य तथा अंग्रेज़ी साहित्य में उनकी अबाध गति थी। सुप्रसिद्ध मैथिल विद्वान् पण्डित बच्चा झा से इन्होंने न्यायशास्त्र तथा वेदान्त का अध्ययन किया था। कालिदास, टेनीसन तथ ब्राउन पर उनके तुलनात्मक व्याख्यान सुनने योग्य होते थे किन्तु जब उन्होंने बड़थ्वाल जी का शोध-प्रबन्ध पढ़ा तो मुग्ध हो गए। यह शोध-प्रबन्ध अंग्रेज़ी भाषा में लिखा गया था। डॉ. कीथ, डॉ. गंगानाथ झा और प्रोफ़ेसर रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे ने भी उनके ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डॉक्टर टी. ग्राहम बेली ने तो इस ग्रन्थ की अंग्रेज़ी लेखन शैली की भी प्रशंसा की है। इस उत्कृष्ट उपलब्धि के पीछे डॉ. बड़थ्वाल श्री तारादत्त गैरोला को अपना प्रेरक मानते थे। श्री गैरोला जी के निधन पर 28 मई, 1940 को लैंसडाउन में आयोजित शोकसभा में श्रद्धांजलि देते हुए बड़थ्वाल जी ने कहा था—

"पंडित तारादत्त गैरोला का निधन मेरे लिए एक व्यक्तिगत क्षति है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। मैं उनको अपना गुरु और हितचिन्तक समझता आया हूँ। परामर्श, प्रोत्साहन और सहायता के रूप में उन्होंने जिस प्रकार मुझे साहित्यिक जीवन में आगे बढ़ाया है, उसके लिए उनके प्रति पूर्ण कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह जगमगाते रत्न थे। उनके ग्रन्थ *द साम्स ऑफ दादू* का उतना ही मान है जितना रवीन्द्रनाथ ठाकुर के *वन हंड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर* का है। वे गढ़वाल के महर्षि थे। अपने तपोमय जीवन से वे हमारे लिए एक आदर्श छोड़ गए हैं। आज निश्चय ही वे परम शान्ति के पद में पहुँच गए हैं परन्तु उनका आदर्श सदैव हमें कर्त्तव्य पथ पर प्रेरित करता रहेगा।"[1]

डॉ. बड़थ्वाल गढ़वाल के जिन अन्य दो मनीषियों से प्रभावित थे, उनके नाम हैं श्री मोलाराम तोमर तथा श्री स्वामी शशिधर। मोलाराम को प्रकाश में लाने का श्रेय पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी के अनन्य मित्र श्री मुकुन्दीलाल बैरिस्टर को जाता है। मुकुन्दीलाल जी डॉ. आनन्द के. कुमारस्वामी के शिष्य थे। कुमार स्वामी ने मोलाराम के छह चित्र अमेरिका के बोस्टन म्यूजियम को प्रदान किए थे।

---

1. *गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ,* पृष्ठ 218, श्री भक्तदर्शन।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर भी इनके चित्रों से बड़े प्रभावित थे। अहमदाबाद के कस्तूरभाई लालभाई संग्रह में उनके द्वारा छाँटे गए चित्र संकलित हैं। डॉ. आनन्द कुमारस्वामी ने अपनी *राजपूत कला* पुस्तक में इन्हें गढ़वाली शैली का निर्माता कहा है। प्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार ने इनके बारे में लिखा है कि मोलाराम कांगड़ा शैली के प्रमुख चित्रकार हुए हैं जो कि अठारहवीं शताब्दी में गढ़वाल के पर्वतों में हुए थे। उनके रंग बहुत सुन्दर हैं, उनके पशु-पक्षी और वृक्ष-लता इत्यादि में एक अद्‌भुत कोमलता और सरसता है। इनके चित्रों का आयाम व्यापक है। दशावतार, नायिका भेद, ऋतुवर्णन, पुराणकथा, राजपरिवार तथा दाम्पत्य जीवन सभी कुछ हैं, इन चित्रों में। यदुनाथ सरकार ने इनके चित्र कांगड़ा शैली के बताए हैं पर डॉ. बड़थ्वाल ने इसे पहाड़ी कला का नमूना कहा है। इसी सूत्र को पकड़ कर बैरिस्टर साहब ने गढ़वाली शैली की उद्‌भावना की। डॉ. बड़थ्वाल लिखते हैं—"मध्यकाल की सांस्कृतिक सुषुप्ति के युग में पहाड़ी कलाकार ही कला के भारतीयपन को जागरित रख सके हैं। कश्मीर से लेकर गढ़वाल तक के प्रदेश में कला की एक लहर चलती रही है जो भारतीयता के लिए प्रसिद्ध है। प्रतिच्छवि की यथार्थता और भाव की आदर्शता—ये दोनों पहाड़ी शैली की विशेषताएँ हैं। पहाड़ी चित्रकार भावुक होते हैं। उनके बनाए चित्र दर्शकों के हृदय में रस का उद्रेक करते हैं। उनकी कृतियाँ बड़ी अर्थ भरी और सजीव होती हैं, उनकी रेखा-रेखा में जीवन का स्पन्दन होता है और उनमें उस प्रतिभा के दर्शन होते हैं जो प्रतिपल नवोन्मेष प्राप्त करने वाली रमणीयता का उत्पादन करती है। उनके विषयों का क्षेत्र विस्तृत है। मानव जाति के सभी भावों को चित्रित करने में उन्होंने सफलता पाई है। गढ़वाल ने भी इस पहाड़ी कला की सफलता में योग दिया है।" मोलाराम की चित्रकला के साथ-साथ उनकी सन्तकाव्य रचना से भी बड़थ्वाल जी प्रभावित हुए। *मन्मथ निर्वाण तरंगिणी, मन्मथ सागर, मन्मथ लहरी, मन्मथ योग, मन्मथ रामायण, दीवान, आदिमाया, वैराग्य मंजरी, स्तुति मंजरी* तथा *चमत्कार चिंतामणि* उनकी ज्ञान-वैराग्य प्रधान कृतियाँ हैं। *योगप्रवाह* नामक ग्रन्थ में मोलाराम द्वारा प्रवर्तित मन्मथ पन्थ पर भी बड़थ्वाल जी ने नवीन प्रकाश डाला। डॉ. बड़थ्वाल लिखते हैं—'मोलाराम ने नाना विषयों पर लिखा है। गढ़वाल के तत्कालीन इतिहास पर उनकी कविताओं से अच्छी तरह प्रकाश पड़ता है। थोड़ा बहुत अध्यात्म विद्या पर भी उन्होंने लिखा है। साधना पन्थ के मनोविज्ञान की दृष्टि से इन कविताओं का बड़ा महत्त्व है। कुछ मनस्तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि मनुष्य के सब भावों का मूल प्रेरक शृंगार ही है। यही एक भाव नाना रूप धारण कर मनुष्य के विविध क्रिया-

कलापों में प्रकट होता है। जान पड़ता है कि मोलाराम के समय में गढ़वाल में भी एक साधना पन्थ ऐसा था, जिसके आचार्यों को इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का ज्ञान था और उसी पर उन्होंने इस पन्थ की नींव डाली थी। इस पन्थ का नाम मोलाराम के अनुसार मन्मथ पन्थ था। यह पन्थ शक्ति का उपासक था। इस पन्थ के अनुसार आदि शक्ति ही सर्वोपरि और सृष्टि का मूल है।'[1] अकल रूप में वह सदाशिव है, निर्गुण है। सकल या सगुणरूप धारण कर वही सृष्टि रचती है।

आदि शक्ति जब रचना रची या विश्व माहिं,
मनमथि कै ध्यान धर्‌यो मन्मथ हुलासा है।
मन्मथ सौं इच्छा भई भोग औ बिलास हूँ की,
ताके हेत ब्रह्मा, हरि रुद्र को प्रकासा है।
आपै सावित्री भई कमला, गिरिनन्दिनी जू,
तीनि के अरधंग बैठि कीन्यों सुख विलासा है।
कहत मोलाराम काहू पन्थ सौं न श्रेष्ठ चली,
मन्मथ पन्थ सेती सकल विस्व को निवासा है।

एक से दो होने का कारण यही शृंगार भावना है, उसी से सारी भौतिक सृष्टि की रचना हुई है।

शक्ति सों मन्मथ भयौ, मन्मथ सौं मिथुन,
मिथुन मथन करि रचना रचाई है।
रचना सों पंचतत्त पिंड औ ब्रह्मंड कीने
तातैं इह विस्व रूप सृष्टि कै हलाई है।
सृष्टि कीन्हें थावर औ जंगम परकास होय,
तामैं चेतन शक्ति आप ही समाई है।
कहत मोलाराम मन आद आदशक्ति जानो,
कै तो मन्मथ पन्थ जगत जिनि उपाई है।

संसार में जितने क्रिया कलाप हैं, वह इसी मूल मनःशक्ति की प्रवृत्ति के नानाविध मन्थन से उत्पन्न हुए हैं—

---

1. सर्वास्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी,
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्त कृत्स्नं व्यवस्थिता। —*प्राधानिक रहस्य*॥ 4॥
महालक्ष्मीर्महाराज सर्वसत्त्वमयीश्वरी,
निराकारा च साकारा सैव नानाभिधानभृत। —*प्राधानिक रहस्य*॥ 30॥

आदि शक्ति मन मथ्यो किए ब्रह्मा और हरिहर,
भई सावित्री आप लक्ष्मी गिरिजा वपुधर।
मिथुन सों जग रची सकल ही सृष्टि बनाई,
ता दिन की मरजाद आज लौं है चलि आई।
मन्मथ को परश्रय जग मन्मथ पन्थी हैं सभी,
ज्ञानी ज्ञानवान बने कामदेव कहते कवी।

मोलाराम का यह मन्मथ पन्थ मनस्तत्त्व और दर्शन के उच्च सिद्धान्तों पर टिका हुआ एक शुद्ध साधना-मार्ग है। इसमें प्राचीन परम्परा से आती हुई उन बातों का मोलाराम ने सिद्धान्त रूप से सम्वत् 1850 के लगभग उल्लेख किया था जिनको मनस्तत्त्व के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान् समझ रहे हैं कि हम ही पहले-पहल आविष्कार कर रहे हैं। कुमार्ग का त्याग, दया, दाक्षिण्य युक्त गृहस्थ धर्म का पालन, मन का नियन्त्रण तथा अन्तर्मुख जीवन व्यतीत करना ही इस पन्थ का उपदेश है। इन्हीं बातों के कारण मोलाराम के अनुसार यह पन्थ अमृत का सार है, जो उसे जानते हैं, उन्हें ब्रह्मानन्द का लाभ होता है।

मन्मथ को पन्थ ऐसो, अमृत को सार जैसो
जानत है सोई सन्त ब्रह्म को विलास है।

मेरा अपना विचार है कि मोलाराम शाक्त थे। *दुर्गासप्तशती* के रहस्य के सिद्धान्तों का ही सृष्टि रचना में उन्होंने उल्लेख किया है। मन्मथ ब्रह्म के ईक्षण का ही पर्याय है। इसी ईक्षण में एक से दो होने की कामना विद्यमान है। इसी का परिणाम मिथुन भाव है। उपनिषद् मिथुन भाव से ही सृष्टि का प्रसार मानते हैं। अथर्ववेद के 'वर जाया' विषयक मन्त्रों में इसी मूल तत्त्व का उल्लेख है। यही मूलप्रवृत्ति मन का मूल उत्स है तथा ऋग्वेद इसे 'कामस्तदग्रे' कहता है। नाथ सम्प्रदाय में 'यह मन शक्ति यह मन सींव' कहकर मन को शिव-पार्वती का युग्म या मिथुन माना गया है। भारतीय संस्कृति में काम की उपासना विहित मानी गई है। कन्दर्प सम्प्रदाय के अस्तित्व का भी पता चलता है। गन्धर्वगण तो कन्दर्प सम्प्रदाय से जुड़े हुए ही थे। विद्वानों ने कन्दर्प और गन्धर्व को एक ही माना है। मोलाराम शाही परिवार की सामन्ती भोगवादी प्रवृत्ति के बीच काम को उदात्त अर्थ देना चाहते थे। अष्ट दुर्गा चित्र बनाकर उन्होंने अपनी शाक्तभावना का पूर्ण परिचय दिया है। डॉ. बड़थ्वाल ने मन्मथ पन्थ में निर्दिष्ट जप, तप, षट्चक्रवेध, नादानुसन्धान तथा ज्योतिदर्शन का प्रमाण देकर उस मार्ग का निर्देश किया जिसमें योग और माधुर्य भाव का मिश्रण था तथा जिसने निर्गुणधारा की माधुर्योपासना के परम्परागत प्रवाह

को अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक सुरक्षित बनाए रखा। इस धारा के अन्तिम कवि अक्षर अनन्य में यह प्रवृत्ति अत्यन्त गहरी है। उनकी शाक्त-योगपरक रचनाएँ मोलाराम की धारणा को पुष्ट करती हैं।

डॉ. बड़थ्वाल का ध्यान इस ओर सर्वप्रथम गया। उन्होंने अपने शोधप्रबन्ध में बौद्ध, सिद्ध तथा शाक्त तान्त्रिकों के शृंगारोन्माद का खण्डन करते हुए लिखा— 'तान्त्रिक शाक्त सम्प्रदायों ने तो औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर दिया। उन्होंने केवल स्त्रियों से यह सीखने का उपदेश ही नहीं दिया कि हमें प्रेम, प्रतिष्ठा एवं अपने आपको भी किस प्रकार अर्पित कर देना चाहिए, प्रत्युत् साधकों को अनुचित प्रेम करने की शिक्षा भी दी। कारण यह कि उनकी स्थूल दृष्टि के अनुसार अपनी पत्नी की ओर से किसी प्रकार के पातिव्रत भंग करने का तो इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बंगाल में आज भी सहजिया सम्प्रदाय इस बात का जीता-जागता उदाहरण है। सहजिया लोगों का विश्वास है कि उक्त सम्प्रदाय के अनुयायियों का परमात्मा के प्रति जैसा उत्कृष्ट प्रेम होना चाहिए वह केवल उन गुप्त प्रेमियों में ही सम्भव है जिनके सम्बन्ध में अनौचित्य एक आवश्यक अंग रहा करता है।'

इसके विपरीत *मन्मथ पन्थ* पर टिप्पणी करते हुए डॉ. बड़थ्वाल ने लिखा— 'मोलाराम के अनुसार आध्यात्मिक साधना, धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, साहित्य, संगीत कला, वाणिज्य-व्यवसाय सब क्षेत्रों में एक ही मूल प्रवृत्ति नाना रूपों में काम करती है। मन्मथ, कामदेव आदि शब्दों के व्यवहार से यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पन्थ का वर्णन मोलाराम ने किया है, वह व्यभिचार फैलानेवाला पन्थ है। वस्तुतः इस ने मनुष्य की वास्तविक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और अपनी साधना को दृढ़ आधारशिला पर रखा है, जिससे साधक धोखे में न पड़े। जैसा 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' से पता चलता है। *गीता* भी मानती है कि फैलाव जितना है प्रवृत्ति का है। इसीलिए वही पन्थ जो इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर चलता है, वस्तुतः लाभदायक हो सकता है। अतएव मोलाराम ने जीव से सींव होने को एकमात्र उपाय बताया है। इस मनःशक्ति को उपयुक्त रूप में मन्थन कर उसे नाना दिशाओं में दौड़ने से रोककर एक ही स्थान में लाना यही सारी साधना का सार है, इसी का दूसरा नाम निवृत्ति तथा योग है।'

मनमथ पन्थी होय आपनो मन समुझावौं।
ठौर ठौर सों मेट एक ही ठौर मैं लावौं॥
जिन ब्रह्मा हरि किए सदाशिव को वर दीन्यौ।
राखे कोट तैंतीस पच्छ ताको हम लीन्यौ॥

वही हरहि कलेस सर्वभय त्राता निजभक्तनही।
करै सत प्रतिपाल नित मोलाराम विचार कही॥

इस प्रकार डॉ. बड़थ्वाल ने निष्कर्ष निकाला कि सन्तकवि प्रवृत्ति में कैसे निवृत्ति का आचरण करता है? कबीर, नामदेव, रैदास, नानक कैसे गृहस्थी में सन्तत्व बचा सके? मन्मथ का अर्थ मन का मन्थन है, विचार-विमर्श है। मन के साथ ज़ोर-ज़बर से काम नहीं चलता। उसे बलात् एक स्थान पर केन्द्रित करना अवैज्ञानिक है। मन को प्रबोध देते रहना साधना है—

काहू सों बकवाद नहीं हम करैं करावैं।
मनमथ पन्थी होय आपनो मन समुझावैं॥

डॉ. बड़थ्वाल को मोलाराम के अतिरिक्त प्रभावित करने वाले सन्तकवि थे स्वामी शशिधर, इनका निधन सन् 1825 में हुआ था। इनके रचे हुए *दोहावली, ज्ञानदीप, सच्चिदानन्द लहरी* तथा *योग प्रेमावली* ग्रन्थों का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में मिलता है। डॉ. बड़थ्वाल लिखते हैं—'स्वामी शशिधर का गढ़वाली सन्त साहित्यकारों में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा हरि मुनि शर्मा इनका बड़ा आदर करते थे। ये बड़ी पहुँच के ज्ञानी थे। जीवन्मुक्त होकर इसी शरीर से वे उस ब्रह्मपद को प्राप्त हो गए थे, जहाँ ब्रह्मा की सृष्टि और विष्णु के अवतारों की पहुँच नहीं। रूपक की भाषा में उन्होंने ऐसे शहर में व्यापार करने की बात कही है—

ब्रह्मा न रचे जहाँ विष्णु को नहिं अवतार।
ऐसो सहर में सदा करै सब बसि बजार॥
एहि जाने सो ताको पण्डित, करै कुतवाल बसाइ।
जाने बिना मिलै नहिं मूढ़ करि होत थकाइ॥

उस पद तक पहुँचने का इन्होंने जो मार्ग बतलाया है, उसमें भी मन की शक्तियों का भली-भाँति ध्यान रखा गया है। इन्होंने कहा है कि ब्रह्मलीन होने के लिए ब्रह्मबोध होना आवश्यक है और ब्रह्मबोध तब तक नहीं हो सकता, जब तक मन को बोध-विषय की प्रतीति नहीं होती। इस विषय पर ये *ज्ञानदीप* में लिखते हैं—

मैं क्या कहूँ कहे यति सति सभ कोइ।
सभ सभी गावैं जो बूझै सो सम होइ॥
प्रतीति से बोध होवै बोध से लय लागे मन।
मन के गति मुनि जाने जाके मिलि गए तन॥

मन को बिना कष्ट पहुँचाए सुख से अन्तर्मुख करने के लिए इन्होंने मन के सामने कृष्ण का परम प्रेमाप्लुत स्वरूप रखा है। ये कहते हैं—

नमस्ते नन्द कुमार नमस्ते गोपिकावर।
बोधात्मा साधनी गावै दीनदास शशिधर॥

कठिन योग को इस प्रकार प्रेममय बनाकर उन्होंने उसके हठ स्वरूप को कृष्ण के द्वारा मन के लिए आसानी से ग्राह्य बना दिया है। क्योंकि कृष्ण में हमें प्रेम और ज्ञान दोनों का समन्वय मिलता है। *भागवत* और *महाभारत* इसके साक्षी हैं। श्रीकृष्ण इसीलिए हमारे पुराणेतिहास आदि के सार हैं और ज्ञान के साक्षी तथा स्वयं योगीराज और योगियों के भी साध्य हैं।

श्रुति स्मृति पुराणात्मा बाध साक्षी विद्याधर।
देवकी नन्दन नाथ श्रीकृष्ण साधकवर॥

भक्ति-योग की समन्वित भूमि निर्गुण सम्प्रदाय की आधार भूमि है। इसको लक्षित करते हुए डॉ. बड़थ्वाल ने स्वामी शशिधर कृत *योगप्रेमावली* के बारे में लिखा है—'*महाभारत* में कृष्ण ने योगत्रयमूलक गीता कही है और *भागवत* में प्रेम-मार्ग का निदर्शन किया है मानों दोनों का सार लेकर स्वामी शशिधर ने योग-प्रेमावली कही है।' यही वह सूत्र है जिसे पकड़कर उन्होंने 'मीराबाई' तथा 'हिन्दी साहित्य में उपासना का स्वरूप' निबन्ध लिखे। उनके आलोचक व्यक्तित्व की बुनावट भी ज्ञान और भक्ति अथवा योग और प्रेम के तारों से हुई। उनका मानना था कि मन:प्रवृत्ति के क्षेत्र में जो उपासना है, अभिव्यंजना के क्षेत्र में वही साहित्य है। निर्गुणिया काव्य को लक्षित करते हुए डॉ. बड़थ्वाल ने कहा—''सहस्रार में ब्रह्म की झलक पाने के लिए भी प्रभाविष्ट जागृति की आवश्यकता है। पति संग जागी सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस (कबीर)। इसीलिए मुक्ति तो प्रेमपूर्ण उपासना से ही मिलेगी, जप, तप, योग इत्यादि तो उसके बाहरी लक्षण अथवा अधिक से अधिक सहायक मात्र हैं। उपासना के सहयोग में उनकी सार्थकता है, अन्यथा नहीं।''

आसन दृढ़, आहार दृढ़ सुमति ग्यान दृढ़ होय।
तुलसी बिना उपासना, बिनु दुलहे की जोय॥

बिना दुलहे के दुलहिन ही क्या? मीरा की भक्ति भावना के विश्लेषण में भी उन्होंने यही कहा है—''गगन मण्डल में बिछी हुई सेज पर ही प्रिय को मिलने की उत्कण्ठा वह अपने मन में रखती है। सुरति-निरति का वह दीपक बनाती है जिसमें प्रेम के बाज़ार में बिकने वाला (अर्थात् प्रेम का) तेल भरा रहता है और मनसा (इच्छा) की बत्ती जलती रहती है। उसका प्रेम मार्ग उसे ज्ञान की गली में

ले जाता है। उसका मन सुरत की आसमानी सुर में लगा हुआ है। वह अगम के देश जाना चाहती है और प्रेम की वापी में शुद्ध आत्मा हंस क्रीड़ा किया करते हैं।'' यही वह तथ्य है, जो मीरा को कबीर के निकट लाता है और वल्लभाचार्य से दूर करता है।

डॉ. बड़थ्वाल का भक्तमानस भी इसी प्रेम-योग के निर्मल जल से परिपूर्ण था। उन्होंने सन्तों-योगियों का सत्संग किया था। इनकी वाणी एकत्र करने के लिए उन्हें गँजेड़ी सन्तों के चिमटों की मार भी खानी पड़ी। देहरादून के प्रसिद्ध साहित्यकार कृष्ण कुमार कौशिक ने सन् 1963 में प्रकाशित 'छवि' नामक मासिक में ऐसा ही रोचक संस्मरण लिखा था। कौशिक जी डॉ. बड़थ्वाल के शिष्य मित्र थे। डॉ. बड़थ्वाल योग साधना भी करते थे। गाँधी जी से प्रेरित होकर उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग भी किया था। अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर उन्होंने दो अंग्रेज़ी पुस्तकें लिखीं— *प्राणायाम विज्ञान* तथा *कला और ध्यान से आत्म-चिकित्सा*। वह हठयोग, नाद-सुरतियोग, कुण्डलिनी योग तथा साहित्य रचना और कलाजन्य एकाग्रता से आत्मोन्नयन का मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे। योग का ही प्रभाव था कि शारीरिक कृशता और रुग्णता के रहते हुए भी उनमें अपूर्व आत्मोल्लास और ऊर्जा थी। शंकर वेदान्त, गोरख-योग, रामानन्दीय प्रेम-योग, बौद्धों के ध्यान मार्ग तथा शाक्तागमों की शृंगार रहस्यपूर्ण जीवन्त अनुभूतियों से गुज़र कर उन्होंने योगमत का प्रारूप तैयार किया था। संस्कृत परम्परा उन्हें घर से प्राप्त हुई। उनके पिता पण्डित गौरीदत्त बड़थ्वाल ज्योतिष तथा कर्मकाण्ड के विद्वान् थे। *भागवत* उनमें बचपन में ही रच बस गई थी। उनकी आध्यात्मिकता उन्हें सत्य कहने के लिए निरन्तर प्रेरित करती रहती। श्री सच्चिदानन्द कबटियाल ने एक महत्त्वपूर्ण घटना की ओर संकेत किया है। इससे बड़थ्वाल जी के व्यक्तित्व का एक सबल पक्ष उद्घाटित होता है। डी.लिट्. होने के बाद उन्होंने महामना मालवीय जी से कहा—हिन्दी के सम्मान के लिए हिन्दी अध्यापक को अन्य विषयों के अध्यापकों के समान वेतन दिया जाए। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापकों को अन्य विषयों के अध्यापकों से कम वेतन मिलता था। बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा लाला भगवानदीन भी इसी श्रेणी में थे। डॉ. बड़थ्वाल ने इस विषमता के विरुद्ध विनम्रतापूर्वक आवाज़ उठाई, उन्होंने अपने लिए नहीं, हिन्दी के सम्मान के लिए अपने पद का त्याग कर दिया। महामना मालवीय जी को आपने 6 मार्च, 1938 को एक अभ्यावेदन दिया। उसमें लिखा था—''अन्य विषयों के डी.लिट्. के समकक्ष मुझे वेतन न दिए जाने का कारण एक ही दिखाई देता है

और वह है मेरा हिन्दी का स्नातक होना।'' इसके तुरन्त बाद वह लखनऊ के हिन्दी विभाग में चले गए। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पण्डित केशव प्रसाद मिश्र जैसे कृती समीक्षक तथा 'हरिऔध' जैसे महाकवि हिन्दी का अध्यापन कर रहे थे। पराधीन भारत के अकादमिक क्षेत्र में हिन्दी के सम्मान की यह पहली लड़ाई थी, जिसके नायक थे—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

बड़थ्वाल जी के आध्यात्मिक स्रोत स्वामी हरि मुनि शर्मा थे, जिनका उल्लेख उन्होंने स्वामी शशिधर के प्रसंग में किया है। मुनि जी 36 वर्ष की उम्र में क्यूंकालेश्वर महादेव मन्दिर, पौड़ी के महन्त बने थे। यह संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। इन्होंने एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की थी। अंग्रेज़ सरकार से महामहोपाध्याय की उपाधि पाने वाले यह गढ़वाल के प्रथम विद्वान् थे। हरिशर्मा मुनि का निधन सन् 1917 में हुआ। बड़थ्वाल जी की आयु तब सोलह वर्ष थी। गैरोला जी यदि गढ़वाल के प्रथम हिन्दी पत्रकार थे, हरिमुनि शर्मा प्रथम महामहोपाध्याय थे तो बड़थ्वाल हिन्दी साहित्य संसार के प्रथम डी.लिट्. बने। अपने क्षेत्र को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए उन्होंने कठोर परिश्रम किया। सन् 1940 में कोटद्वार ग्राम सुधार प्रदर्शनी के अवसर पर कला और शिक्षा विभाग की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन करते हुए उन्होंने कहा था—

''यह भूमि सदा से तपोभूमि रही है। औद्योगिक सभ्यता का क्रम यहाँ रहा हो या न रहा हो, किन्तु यह निश्चय है कि कला के मूल में जो निःस्वार्थ भावना रहती है वह प्रचुर मात्रा में यहाँ विद्यमान है। निसर्ग ने इस भूमि को सौन्दर्य की खान बनाया है। इसलिए स्वभावतया यहाँ कवियों और कलाकारों की कोई कमी नहीं रही है और न आज है, यह हमारे लिए गौरव की बात है।''

वह संकीर्ण जातीय गौरव की हीन ग्रन्थि या उच्च ग्रन्थि से ग्रस्त न थे। उन्होंने एक ओर मोलाराम, अवनीन्द्र ठाकुर, आनन्द कुमारस्वामी तथा जे.सी.फ्रेंच के हवाले से गढ़वाली कला की प्रशंसा करते हुए लखनऊ आर्ट स्कूल से प्रशिक्षित होकर निकलने वाले नवयुवक कलाकारों को प्रोत्साहित किया तथा उनकी कला, उत्साह, परिश्रम और निष्ठा की उन्मुक्त सराहना की, तो दूसरी ओर उन युवकों के रूप में मोलाराम के नये रूपान्तरण की सम्भावना मानते हुए उन्होंने लिखा— ''चित्रकला में गढ़वाल और तरह से भी अच्छा स्थान प्राप्त कर रहा है। गढ़वाल से सम्बन्ध रखने वाले विषय भी कला के लिए ख़ूब लिए जाने लगे हैं। कुछ बाहरी चित्रकारों को इसमें काफ़ी सफलता मिली है। पर मैं समझता हूँ कि इस दिशा में

गढ़वाली स्वयं जो सफलता प्राप्त कर सकते हैं वह बाहरी लोग नहीं प्राप्त कर सकते। गढ़वाली गढ़वाल की आत्मा में प्रवेश कर उसके जीवन को जितने भीतर से देख और समझ सकता है उतना बाहरी नहीं। इसलिए युवक चित्रकारों से मेरा अनुरोध है कि वे गढ़वाल के जीवन की अपने चित्रों द्वारा व्याख्या करें।

''एक बात और कह दूँ। अब तक पहाड़ी चित्रकला की यह कमी रही है कि एकचक्षु चित्रों में ही सफलता प्राप्त कर सकी है। द्विचक्षु यदि कहीं मिलते भी हैं तो उनमें उसको सफलता प्राप्त नहीं हुई है। रेखांकन, वार्णिकता और खुलाई इतनी विकसित नहीं थी कि उसमें सामने की द्विचक्षु मुखाकृति दिखाई जा सके। अर्थात् गढ़वाली चित्रकारी में यथार्थता का भाव विद्यमान होते हुए भी उसमें यथार्थता को प्रदर्शित करने के पूरे साधनों की सिद्धि नहीं थी। पाश्चात्य चित्रकारी में यथार्थता का विशेष आधार है। मैं समझता हूँ कि अपनी आदर्श भावुकता का बिना हनन किए हुए उसको बढ़ाने के लिए जितनी पाश्चात्य यथार्थता का हम प्रयोग कर सकें उतनी यथार्थता का प्रयोग होना चाहिए। चित्रकला का भविष्य गढ़वाल में आशाजनक है। किन्तु चित्रकला ही एकमात्र कला नहीं है। काव्य-कला, संगीत, तक्षण और वास्तुकलाओं का भी पूरा विकास होना चाहिए। काव्यकला का विकास यहाँ चित्रकला के सदृश ही काफ़ी बढ़ रहा है। प्रकृति की गोदी में जो कोमल हृदय हमने पाया है उसके परिणामस्वरूप कवि की मर्मानुभूति हमने बड़ी अच्छी तरह पाई है। आजकल हमारे बीच कई सुन्दर कवि और लेखक विद्यमान हैं। आज तक परिस्थितियों की जटिलताओं के कारण कभी-कभी हमारी काव्य प्रेरणा सो जाया करती थी किन्तु कुछ समय से यह देखा जा रहा है कि गढ़वाल की काव्य साधना एक स्थायी वस्तु होने जा रही है और साहित्य की वृद्धि में उसे सम्पन्नता प्रदान करने में काफी सफल होगी।''

प्राथमिक शिक्षा पर भी उन्होंने सन्तोष व्यक्त किया। सार्वजनिक हाईस्कूल और डिग्री कॉलेज खोले जाने की आवश्यकता पर बल दिया। गढ़वाल की हीन आर्थिक दशा के कारण उद्योग-धन्धों की ज़रूरत भी समझाई पर यह भी कहा कि सभ्यता और संस्कृति दोनों अगल-बग़ल चलनी चहिए। शरीर की आवश्यकताओं पर एकांगी ज़ोर देने से कहीं आत्मा की उपेक्षा न हो जाए। पेट की भूख बुझाने के साथ-साथ मन की भूख बुझाना भी ज़रूरी है। गढ़वाल की शिक्षा में उन्हें जीवन के लक्षण दिखाई दिए। उनका मानना था कि शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति दोनों की आधारशिला है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह साहित्य, परम्परा, संस्कृति, कला और सामाजिक आवश्यकताओं से गहराई के साथ जुड़े थे। शिक्षा को उन्होंने केवल

पोथी-पत्रों का अक्षरी व्यापार या जीवनयापन का साधन नहीं माना था, वह कहते थे—''शिक्षा है भीतर छिपी हुई वास्तविक मानवता को बाहर खींचना। वह हमको अधिक सजीव मानव बनाती है। हम में आदमीयत भरती है। अहंकार से मानवता को दबा देने वाला अक्षरी ज्ञान, शिक्षा नहीं है। आजकल की उल्टी परिस्थितियों में जबकि बजटों में शिक्षा को बहुत नीचा स्थान मिलता है तब शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न प्रशंसनीय है। आशा है कि अपने आपको शिक्षा देने के व्यय के भार को सदा के लिए निस्सहाय शिशु के असमर्थ कन्धों पर ही नहीं छोड़ दिया जाएगा और राष्ट्र अपने प्रत्येक नागरिक को शिक्षित बनाने के अपने उत्तरदायित्व को साहस के साथ अपने ऊपर लेगा।''

डॉ. बड़थ्वाल इतना होने पर भी निरन्तर रोज़ी-रोटी के लिए संघर्षरत रहे। पारिवारिक चिन्ताओं, अर्थाभाव तथा ईर्ष्यालुओं के षड्यन्त्र के शिकार होने पर भी उन्होंने सत्य, न्याय, धर्म तथा साहित्य सेवा का मार्ग नहीं छोड़ा। उनका जीवन सन्तों के 'सहज' का आदर्श रूप था। वह साहित्य, संस्कृति तथा जीवनधारा के सहज रूप को ही विकसित और प्रसारित करने के पक्षधर थे। उनके प्रमुख शिष्य और हिन्दी के समर्थ आलोचक डॉ. भगीरथ मिश्र ने उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—''डॉ. बड़थ्वाल के भीतर सत्य के प्रति दृढ़ आग्रह और असत्य के प्रति रोषावेश था। वे द्वेषाभिभूत होकर दोषारोपण को सहन नहीं कर सकते थे; क्योंकि उनका अपना निजी प्रयास सच्चाई की खोज ही था। इसमें वह सहयोग की अधिक और दोष दर्शन की कम आशा रखते थे। यही कारण है, जिससे वे कभी-कभी अपने लेखों में क्षुब्ध दीखते थे। इस प्रकार डॉ. बड़थ्वाल के रूप में एक साहित्यिक तपस्वी अपनी साधना कर रहा था।''[1]

बड़थ्वाल और आपदाएँ पर्याय बन गई थीं। काशी जैसा स्वच्छन्द, सहज और आत्मीयता से भरा वातावरण लखनऊ जाकर उन्हें न मिला। वह परिश्रमी प्राध्यापक थे। कक्षा में पढ़ाने जाते तो तैयारी के साथ जाते। विषय से सम्बन्धित सन्दर्भ पुस्तकें साथ लेकर जाते। अपने व्याख्यान में तथ्य-पुष्टि के लिए ग्रन्थों के सन्दर्भों की माला पिरो देते। अन्य विषयों के अध्यापकों तथा छात्रों के आश्चर्य का ठिकाना न रहता जब वह पुस्तकालय से चपरासी के सिर पर पुस्तकों की पोट धरे हुए लम्बे-लम्बे डग भरते हुए कक्षा में प्रवेश करते। वह साहित्य के सच्चे अध्यापक और यथार्थ अन्वेषक थे। उनके निजी संग्रहालय में अनेक बहुमूल्य एवं दुष्प्राप्य

---

1. *मकरन्द*—सम्पादकीय वक्तव्य, पृष्ठ 4

हस्तलिखित ग्रन्थ और पाण्डुलिपियाँ थीं। 'चौरंगीनाथ', 'निरंजन धारा' तथा 'उत्तराखण्ड में सन्त मत' और 'सन्त साहित्य' जैसे मौलिक निबन्ध ऐसे ही नहीं लिख दिए गए। सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा है कि "डॉ. बड़थ्वाल जो कुछ भी लिखते थे उसे गम्भीरतापूर्वक और पूरी सावधानी के साथ लिखा करते थे, उनके बड़े-से-बड़े ग्रन्थों से लेकर छोटे-से-छोटे निबन्धों तक की रचना के पीछे उनके गहरे अध्ययन एवं अनुशीलन की छाप लगी हुई है। वे किसी भी विषय पर सदा स्वतन्त्र रूप से विचार करने की चेष्टा करते थे, उस पर नया प्रकाश डालना अपना लक्ष्य बना लेते थे और उसे लेकर लिखते समय अपने वाक्यों में युक्तियों के साथ-साथ रोचकता तथा सजीवता भी भर देते थे। कहते हैं कि अपने लेखों की अनेक पंक्तियों को उन्होंने प्रकाशित करने के पूर्व बीस-बीस, तीस-तीस बार तक सुधारा होगा। उनका 'सुरति-निरति' नामक निबन्ध जो *योग प्रवाह* पुस्तक के केवल ग्यारह पृष्ठों में छपा है, उनके ग्यारह वर्षों के परिश्रम का फल है। किसी विषय की धारणा बना लेना उसे सर्वप्रथम थोड़े में ही व्यक्त करना और पीछे उसे समुचित विस्तार देकर सुव्यवस्थित रूप देना उनकी प्रमुख विशेषता के अंग थे। वह एक शुद्ध साहित्यिक जीव थे और उनकी अन्तःप्रेरणा, उनकी सच्ची लगन का उपयोग सदा स्थायी कार्यों में ही किया करती थी। उन्हें अपने पाण्डित्य का अभिमान न था फिर भी उनकी कृतियों में उनके आत्मविश्वास, दृढ़ता एवं निर्भयता के उदाहरण सर्वत्र लक्षित होते हैं। साहित्य सेवा ने उनके लिए एक पूरे व्यसन का रूप धारण कर लिया था और उनकी एकान्त निष्ठा तथा अनवरत परिश्रम, उनकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों में क्रमशः विकार एवं ह्रास उत्पन्न करते हुए, उन्हें असामयिक मृत्यु की ओर बरबस खींच ले गए।"[1]

अत्यधिक श्रम और रात-रात भर जाग कर काम करने के कारण उन्हें उन्निद्र रोग ने आ घेरा। इस पर भी एक अज्ञात भय उनके हृदय में लखनऊ प्रवास की विपरीत परिस्थितियों ने पैदा कर दिया कि उनकी साहित्यिक सामग्री की चोरी होने वाली है। एक तो स्वास्थ्य पहले से ही ठीक न था। इस पर रात-दिन का देह तोड़ श्रम, आर्थिक अभावों के कारण परीक्षा-मूल्यांकन के प्रति अरुचि होते हुए भी लोभ। बड़थ्वाल जी ने साहित्य, अध्यापन, परीक्षा कार्य, लेखन तथा गढ़वाल की निष्काम सेवा की वेदी पर स्वयं को न्यौछावर कर दिया। उन्हें विक्षिप्तता ने घेर लिया। उच्चाटन इतना बढ़ गया कि लखनऊ छोड़ कर बीच-बीच में घर आने लगे।

1. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय*, पृष्ठ 12

फ़रवरी 1944 की यात्रा उनके लिए अशुभ सिद्ध हुई। वह लौटकर दुबारा लखनऊ न जा सके। आख़िर 24 जुलाई 1944 को पैतृक ग्राम पाली में उनका निधन हो गया। वह कभी क्षरित न होने वाले ब्रह्मपद में विलीन हो गए। नियति की विडम्बना देखिए। उनके पुत्र भी पागलपन के शिकार हुए। पुत्रियों को छोड़कर परिवार में कोई जीवित न रहा। उनकी माता श्रीमती रुक्मिणी देवी को पुत्र तथा पौत्र शोक से व्यथित होना पड़ा। दुर्निवार नियति को कोई टाल नहीं सकता। इस अवसर पर मुझे *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय* की ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं, जो उन्होंने कबीर के प्रसंग में लिखी थीं—"दावानल द्वारा अधजली लकड़ी खड़ी-खड़ी पुकार कर कह रही है कि कहीं लोहार के हाथों न पड़ जाऊँ, नहीं तो वह दुबारा जला देगा अथवा बढ़ई को आता देखकर वृक्ष काँपने लगा और कहने लगा कि हे पक्षी, मुझे अपने कटने का डर नहीं पर अब तू अपने घोंसले की ओर उड़ जा।" यहाँ पर शरीर रूपी वृक्ष आत्मारूपी पक्षी को मृत्यु से सचेत करते हुए ब्रह्म में लीन हो जाने की प्रेरणा देता है। कटना वृक्ष की नियति है। मृत्यु शरीर का भोजी है। पक्षी की सार्थकता घोंसले की ओर उन्मुख होने में है। बड़थ्वाल जी ने मृत्यु का स्वागत इसी रूप में किया—

बाढ़ी आवत देख करि तरुवर डोलन लाग,
हमैं कटै की कुछ नहीं पंखेरू घर भाग॥

योग मार्ग के जाने-माने पण्डित डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने उनके निधन पर श्रद्धांजलि देते हुए कहा था—"डॉ. बड़थ्वाल की मृत्यु से हिन्दी संसार की बड़ी क्षति हुई। उन्होंने हमारे वाङ्मय के एक विशेष क्षेत्र को, जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक रचनाओं से है, अपने अध्ययन का विषय बनाया था। इस दिशा में उन्होंने जो काम किया था, उसका आदर विद्वत्समाज में सर्वत्र हुआ। यदि आयु ने धोखा न दिया होता तो वह गम्भीर रचनाओं का और भी सर्जन करते।"

डॉ. बड़थ्वाल समूचे हिन्दी साहित्य संसार के लिए गौरव और आत्म सम्मान के प्रतीक थे। डॉ. गोविन्द चातक ने लिखा है—"दुर्भाग्य से उन्हें सिर्फ़ 43 वर्ष की ही आयु मिली। यदि उन्हें कुछ और वक़्त मिलता और वे बीमार न रहे होते तो उनकी साहित्यिक प्रतिभा और भी उजागर होती।" डॉ. प्रभाकर माचवे ने उनकी महानता का आकलन करते हुए उन्हें हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचकों में रखा है। वह कहते हैं, "मैं तीन हिन्दी आलोचकों के सामने नतमस्तक हूँ। यानी उनकी लिखी पंक्ति-पंक्ति मैंने पढ़ी और उससे मैं प्रभावित हुआ। वे हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी। इन तीनों से ही मैं

सर्वाधिक क्यों प्रभावित हुआ, इसका कारण शायद दर्शन के अध्ययन से और विश्लेषणात्मक, तर्कयुक्त, बुद्धिग्राह्य, वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति से मेरे मन में जो प्रेम है वही मुख्य हो।'' डॉ. बड़थ्वाल के चिन्तन की यही प्रमुख विशेषता है।

अकादमिक शोध, इतिहास लेखन तथा चिन्तन में वे जिनसे सर्वाधिक प्रभावित हुए, वे थे डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. हीरालाल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी।

जैसा कि कह चुके हैं बाबू श्यामसुन्दर दास जी लखनऊ के कालीचरण हाईस्कूल के मुख्याध्यापक थे। बड़थ्वाल जी ने यहीं से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। बाबू जी उनकी प्रतिभा से प्रभावित हुए। बड़थ्वाल जी ने सन् 1926 में जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की, तब बाबूजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे थे। सन् 1928 में बड़थ्वाल जी ने हिन्दी एम.ए. परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बाबूजी की ही पहल पर वह हिन्दी विभाग में पहले शोध सहायक और फिर प्रवक्ता नियुक्त हुए। अध्यापन कार्य करते हुए नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विभाग में अवैतनिक निरीक्षक का कार्य भी किया। सन् 1929 में क़ानून की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा सन् 1931 में अपना महान शोधग्रन्थ लिखकर हिन्दी की धाक जमाई। दिसम्बर 1933 के दीक्षान्त पर उन्हें डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त हुई। इन छह वर्षों में वह बाबूजी के तथा शुक्ल जी के घनिष्ठ सम्पर्क में आए। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के पण्डित होने से समालोचना शास्त्र, भाषाविज्ञान, व्याकरण, पाठालोचन एवं पाठ सम्पादन के कार्य में उन्होंने बाबू जी का हाथ बटाया। बाबू जी यदि बड़थ्वाल जी के निर्माता थे तो बड़थ्वाल जी, बाबू जी के लेखन की पक्की नींव थे। नागरी लिपि के प्रचार और हिन्दी में सत्साहित्य के लेखन-प्रकाशन, प्राचीन दुष्प्राप्य ग्रन्थों के उद्धार तथा अन्वेषण के लिए बाबू जी ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी वही जन्मदाता थे। बड़थ्वाल जी के शब्दों में बाबू जी सभा के मस्तिष्क थे, हिन्दी की संघ शक्ति का मूर्तरूप थे। 'सरस्वती' पत्रिका भी प्रधानतया उन्हीं के सम्पादन में प्रादुर्भूत हुई थी। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जो शोध सामग्री के लिए मानक मानी जाती थी, उन्हीं के सुदक्ष निरीक्षण और अनवरत परिश्रम का फल कही जाएगी। पंजाब के पण्डित राधाकृष्ण ने जब संस्कृत ग्रन्थों की खोज का कार्य शुरू किया तो हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य युक्त प्रान्त की सरकारी अनुदान राशि से बाबू जी के कारण ही सम्भव हो सका। वह लगातार नौ वर्षों तक यह कार्य कराते रहे। उनकी खोज रिपोर्टें

इतनी मार्के की होती थीं कि सर जार्ज ग्रियर्सन, डॉ. पिशेल तथा डॉ. थीवो जैसे मान्य विदेशी विद्वान् भी विस्मय विमुग्ध हो जाते थे। सभा के लिए प्राचीन आकर ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन भी किया। *पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, कबीर ग्रन्थावली, चित्रावली* तथा *हिन्दी शब्दसागर* का सम्पादन करते हुए उन्होंने बड़थ्वाल जी को प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की कला भी सिखाई। बाबू जी ने बड़थ्वाल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण किया। इसीलिए कालीचरण हाईस्कूल की रजत जयन्ती के अवसर पर बाबू जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर 'बाबू श्यामसुन्दर दास की हिन्दी सेवा' शीर्षक लेख लिखकर बड़थ्वाल जी ने अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की थी। इस लेख में बड़थ्वाल जी ने लिखा था—"मेरी समझ में उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि केवल हिन्दी साहित्य के ही आधार पर ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जा सकती है। वे हिन्दी के सबसे बड़े आचार्य और अध्यापक हैं। अध्यापक तो वह पहले भी थे, किन्तु मालवीय जी ने हिन्दी विभाग का संचालन करने के लिए जब उन्हें काशी विश्वविद्यालय में आमन्त्रित किया तब उन्हें वह काम मिला जो उनके मन के अनुकूल था और जिसके लिए वे पूर्णतया उपयुक्त और सज्जित थे। काशी विश्वविद्यालय की अध्यापकी के द्वारा ही उन्होंने हिन्दी को सबसे बड़ा दान दिया। हिन्दी के जीवनतत्त्व, शक्ति और वैभव को उनके रूप में मूर्तिमान देखकर गौरव की भावना के साथ विद्यार्थी उनसे हिन्दी भाषा और साहित्य की शिक्षा ग्रहण करते थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें विद्यार्थियों को दिए हुए व्याख्यानों के ही विकसित रूप हैं। हिन्दी साहित्य का कोई ऐसा विभाग नहीं जिसके लिए उनके परिश्रम से दृढ़ नींव न उपस्थित हुई हो। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना, भाषाविज्ञान, भाषा और साहित्य का इतिहास आदि प्राय: सभी क्षेत्रों में वे आदि आचार्य हुए। *भाषा और साहित्य, भाषा विज्ञान, भाषा रहस्य, साहित्यालोचन, रूपकरहस्य* आदि ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं।

वे केवल ग्रन्थकार और अध्यापक ही नहीं, ग्रन्थकारों और अध्यापकों के निर्माता भी हैं। कहीं उन्होंने प्रतिभा की एक चिंगारी देखी कि उसे प्रकाश पुंज में परिणत करने का प्रयत्न किया। हिन्दी के कितने ही लेखक और अध्यापक जो उच्चकोटि के साहित्य का उत्पादन कर रहे हैं और उच्च शिक्षा का दान कर रहे हैं, उनके प्रति कृतज्ञता के भार से दबे हुए हैं।"

डॉ. बड़थ्वाल के ये उद्‌गार उन पर भी चरितार्थ होते हैं। डॉ. बड़थ्वाल को प्रकाश पुंज में परिणत करने का श्रेय बाबू श्याम सुन्दरदास को ही है। यह लेख बाबू जी के जीवनकाल में ही छपा था।

बाबू श्यामसुन्दर दास के समान ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी डॉ. बड़थ्वाल को इतिहास की शोधपूर्ण आधारभूत सामग्री तथा आलोचनात्मक निबन्ध लेखन की प्रेरणा देकर प्रोत्साहित किया। अपने सुप्रसिद्ध *हिन्दी साहित्य के इतिहास* में नाथपन्थी साहित्य के प्रसंग में डॉ. बड़थ्वाल का नामोल्लेख करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त ग्रन्थों और सूचनाओं की प्राप्ति के लिए आशीर्वाद दिया। *कबीर ग्रन्थावली* की 44 पृष्ठों की अनुशीलनात्मक प्रस्तावना डॉ. बड़थ्वाल की आलोचनात्मक प्रतिभा का नमूना है। शुक्ल जी इसे पढ़कर प्रभावित हुए। उन्होंने अपने *हिन्दी साहित्य का इतिहास* में 'आधुनिककाल में समालोचना' प्रकरण में स्पष्ट रूप से लिखा कि यह शोधपूर्ण भूमिका डॉ. बड़थ्वाल द्वारा लिखी गई है। बाबू जी ने भी अपनी भूमिका में लिखा—"इसी प्रकार प्रस्तावना के लिए सामग्री एकत्र करने और उसे व्यवस्थित रूप देने में मेरे दूसरे छात्र पण्डित पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, एम.ए. ने मेरी जो सहायता की है, वह बहुत ही अमूल्य है।" शुक्ल जी बड़थ्वाल जी को कितना स्नेह-मान देते थे, यह इस बात से सिद्ध है कि सन् 1941 की जनवरी के अन्तिम सप्ताह में स्वाक्षरों में एक पत्र उन्होंने बड़थ्वाल जी को लिखा कि वह हिन्दी विभाग की हिन्दी साहित्य समिति में आएँ और व्याख्यान दें। 18 जनवरी, 1941 को शुक्ल जी लखनऊ विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम समिति में भाग लेने के लिए लखनऊ आए तो बड़थ्वाल जी के घर पर ही ठहरे। शुक्ल जी के निधन से उन्हें आघात लगा। इस अनभ्र वज्रपात की सूचना उन्हें कथाकार पहाड़ी तथा डॉ. केशरी नारायण शुक्ल ने दी। जैसे बड़थ्वाल जी ने डॉ. श्यामसुन्दर दास के निर्देशन में डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त की वैसे ही डॉ. केशरी नारायण शुक्ल ने अपना डी.लिट्. का शोध प्रबन्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निर्देशन में प्रस्तुत किया था। शोकाहत बड़थ्वाल जी ने अपनी पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त की—

"शुक्ल जी का निधन समस्त हिन्दी जगत् के लिए एक अतुलनीय दुःखद घटना है। उनके शिष्यों और सहयोगियों के लिए तो, जिनके हृदय में वे घर कर गए थे और जिनके लिए उनके हृदय में जगह थी, यह उसी प्रकार व्यक्तिगत क्षति है जैसे उनके परिवार के लिए। मैंने छह-सात वर्षों तक उनके चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण की है और उतने अधिक समय तक अध्यापन कार्य में मैं उनका सहयोगी रहा। इस बीच उनके हृदय के सौन्दर्य का दर्शन करने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ, उसने इस समय मेरे शोक को अत्यन्त तीव्र कर दिया है। हिन्दी साहित्य का तो आज एक स्तम्भ टूट गया है। उनके निधन से इसकी जो क्षति हुई है, वह अनुमान लगाने की बात नहीं। हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों को उनकी प्रतिभा का दान मिला है

और ऐसा कोई विषय नहीं जिसे उन्होंने छुआ हो और अलंकृत न कर दिया हो।''

बड़थ्वाल जी ने शुक्ल जी से निबन्ध लेखन की प्रेरणा ली, व्याख्यात्मक आलोचना को आकार दिया, ब्रजभाषा के प्रति लगाव का अनुभव किया, भाषाशास्त्र की दुरूह ग्रन्थियों का निराकरण सीखा तथा विनोदी उक्तियों के बीच अध्यापन को सरस बनाने की कला समझी। शुक्ल जी के अनुरूप ही सहज किन्तु गम्भीर व्यक्तित्व था, उनके शिष्य बड़थ्वाल का। उन्होंने इस तथ्य को अंकित करते हुए लिखा—''शुक्ल जी का व्यक्तित्व उनकी विद्वत्ता से भी अधिक आकर्षक था। पाण्डित्य और सौजन्य का उनमें दुर्लभ मणिकांचन संयोग था। वे बड़े सरल और निरभिमान थे। पाण्डित्य का गर्व उनको छू भी न गया था। उनकी मुद्रा पहले दूर से उनके प्रति आदर भाव उत्पन्न करती थी। पहले-पहल देखने वालों को वे दूर-दूर हटे से लगते थे। किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उनके साथ सम्पर्क बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों व्यक्ति उनको अपने निकट से निकट पाता था। वे जितने ही सरल थे उतने ही तरल भी। उनका हृदय सबके लिए सद्भाव और स्नेह से भरा रहता था। जो उनके सम्पर्क में आता, उसके हृदय में उनके लिए श्रद्धा घर कर जाती और वह सदा के लिए उनका भक्त बन जाता। उनके चारों ओर शान्ति, पवित्रता और शीतलता का मण्डल घिरा रहता था जो सबके लिए संक्रामक होता था।''

काशी के हिन्दी स्नातकों में एक भ्रम पता नहीं कैसे फैला कि बाबू जी और शुक्ल जी सदैव आपस में खिंचे-खिंचे रहे और दोनों आचार्यों के शिष्य भी अपनी-अपनी गुरुनिष्ठा से दो दलों में विभाजित होते गए, पर बड़थ्वाल जी की उक्त श्रद्धांजलि से इस भ्रम का पूर्णतया उच्छेद हो जाता है। लेखन कार्य में बड़थ्वाल जी का पूरा सहयोग बाबू जी को मिला। रूपक-रहस्य तो बड़थ्वाल जी ने ही बाबू जी के निर्देश पर तैयार किया। *हिन्दी साहित्य, तुलसीदास, भाषा विज्ञान* नामक पुस्तकों के लेखन और मुख्यतया कबीर विषयक शोध में निःस्पृह भाव से उन्होंने गुरुजी का साथ दिया। रूपक-रहस्य पर तो संयुक्त लेखकों में बाबू जी के साथ उनका नाम भी छपा पर बाद में पता नहीं किन कारणों से वह नाम हटा दिया गया। वह सच्चे सारस्वत पुरुष थे, सत्य के पक्षधर थे, उनमें स्वार्थवाद तिलमात्र को न था। यही कारण है कि उन्होंने शुक्ल जी की पुस्तक *गोस्वामी तुलसीदास* की भूरि-भूरि प्रशंसा की जबकि बाबू श्यामसुन्दर दास जी के साथ *तुलसीदास* पर वह भी पुस्तक लिख चुके थे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से उन्हें ज्ञान-विज्ञान की सूचनाओं से भरपूर निबन्ध लेखन की प्रेरणा मिली। कसाव, गतिशील विचार परम्परा का गुम्फन

मौलिक शोध और विचारोत्तेजकता निबन्ध के प्रमुख गुण हैं और इन विशेषताओं को लक्षित किया बड़थ्वाल जी ने द्विवेदी जी के निबन्धों में। चपेट भरी ताने जनी और अज्ञान पर कटाक्ष, थोथी अहम्मन्यता पर प्रहार और व्यक्तिगत आक्षेप करने में द्विवेदी जी कभी चूकते नहीं थे। स्वयं बड़थ्वाल जी ने लिखा है—"ताने जनी में द्विवेदी जी का मन खूब रमा हुआ जान पड़ता है। जहाँ कहीं इसके लिए उन्हें अवसर मिलता है, वहाँ उनकी उमंग के चारुदर्शन होते हैं और पढ़ने वाला भी उसके कटाक्ष और औचित्यानौचित्य की परवाह किए बिना उनके आनन्द में भागीदार हो जाता है। पुस्तकालोचन सम्बन्धी निबन्धों में उन्हें ऐसे अवसर बहुधा मिला करते थे। उनकी इस प्रकार की चपेटें कभी-कभी बहुत कटु हो जाया करती थीं परन्तु वह कटुता भी सर्वथा विरस नहीं कही जा सकती।" उन्होंने इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी को ज्ञान-विज्ञान के प्रचारक पत्रकार के रूप में देखा और कमोबेश यही विशेषता बड़थ्वाल जी में भी दिखाई देती है। वह लिखते हैं—"वस्तुतः द्विवेदी जी ने थोड़े से सीमित विषयों पर अपनी तीव्र अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करने की अपेक्षा अपनी विशेष परिस्थिति में यही कल्याणकर समझा कि जगत् में उच्च श्रेणी के विद्वान् ज्ञान की जो सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं, उसका जनता को परिचय करा दिया जाए। अर्थात् वे व्यापक अर्थ में ज्ञान-विज्ञान के पत्रकार थे और पत्रकार भी साहित्यिक अभिरुचि के।"

आचार्य द्विवेदी के समान ही बड़थ्वाल जी भी प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान, योग, कला, इतिहास, दर्शन, संस्कृति तथा धर्म सम्बन्धी हिन्दी ग्रन्थों के खोज-विवरण तैयार करते हुए अपनी बहुज्ञता का परिचय देते थे। यह कम गौरव की बात नहीं है कि 'पुरुषार्थ' मासिक में प्रकाशित उनके इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र तथा साहित्य पर प्रकाशित विद्वत्तापूर्ण निबन्धों तथा उनके शोधप्रबन्ध को देख कर ही सन् 1937 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन में उन्हें विशेष रूप से व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया गया तथा सन् 1940 में तिरुपति में आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन की हिन्दी परिषद् के सभापति पद पर मनोनीत किया गया। इसी सम्मेलन में अध्यक्ष पद से उन्होंने अपना बहुचर्चित भाषण 'हिन्दी काव्य की निरंजन धारा' पर दिया। उनके निबन्धों को देखकर डॉ. भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि नाथ पन्थ में योग, उत्तराखण्ड के मन्त्रों में गोरखनाथ, सन्तों का सहजज्ञान, चौरंगीनाथ आदि निर्गुणी सन्त कवियों की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हैं साथ ही निरंजनधारा, निर्गुणधारा के समक्ष समानान्तर सन्त साधना की धारा को स्पष्ट करती है। ये अनेक क्षेत्र अभी तक हिन्दी के इतिहासकारों

द्वारा प्राय: परिचित नहीं हैं। अत: इतिहास निर्माण में ऐसे लेखों का बड़ा महत्त्व है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की तरह उन्होंने 'मूलगोसाईं चरित और पण्डित राम नरेश त्रिपाठी' लेख लिखकर चपेटने वाली भाषा का उदाहरण भी दिया है जो उनके अगाध अध्ययन, आत्मविश्वास तथा पाण्डित्य के कारण ही संभव हो सका। इस प्रकार के अवसर उन्हें द्विवेदी जी के अत्यन्त निकट ले जाकर खड़ा कर देते हैं।

उनका एक समीक्षात्मक निबन्ध है 'मूलगोसाईं चरित और पण्डित रामनरेश त्रिपाठी'। रामनरेश त्रिपाठी द्विवेदी युग के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार थे। *पथिक* और *मिलन* खण्डकाव्य तथा फुटकर राष्ट्रीयतापूर्ण रचनाएँ लिखकर उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक कवियों की रचनाओं के *कविता कौमुदी* नाम से संकलन तैयार किए थे। उन्होंने *तुलसीदास और उनकी कविता* नाम से तीन खण्डों वाला एक ग्रन्थ लिखा। बाबू श्यामसुन्दर दास और डॉ. बड़थ्वाल की लोकप्रिय पुस्तक *गोस्वामी तुलसीदास* की मान्यताओं तथा वेणीमाधव कृत *मूल गोसाईं चरित* पर इस ग्रन्थ के पहले खण्ड में जमकर प्रहार किए गए। 'वीणा' नामक सुप्रसिद्ध पत्रिका में भी उस आक्षेप युक्त लेख को त्रिपाठी जी ने छपवाया और फिर सन् 1937 में जब पुन: यह बृहदाकार ग्रन्थ छपा तो उन्हीं आक्षेपों को दुहराया। लखनऊ विश्वविद्यालय के यशस्वी प्राध्यापक डॉ. दीनदयाल गुप्त ने 'सनाढ्य जीवन' नामक पत्र में रामनरेश त्रिपाठी जी के कुछ आक्षेपों को प्रामाणिक ठहराया तब डॉ. बड़थ्वाल को त्रिपाठी जी के कथन की असत्यता सिद्ध करने के लिए क़लम उठानी पड़ी। यह विवाद कैसे-कैसे हल्के बिन्दुओं पर था, इसका विवरण बड़थ्वाल जी के शब्दों में ही सुनिए—''आचार्य शुक्ल को त्रिपाठी व्यर्थ ही सान रहे हैं। व्यक्तिगत राय का उत्तरदायित्व उनके सिर पर थोप रहे हैं। शुक्ल जी ने जिस अर्थ में आहट (त्रिपाठी जी के हट) प्रत्यय को नवीन बताया होगा, वह त्रिपाठी जी की समझ में आया ही नहीं। सभी लोग इस प्रत्यय को इस अर्थ में आधुनिक समझते हैं कि यह प्रत्यय खड़ी बोली में प्रयुक्त होता है। खड़ी बोली आजकल की विशेषता है। जिस अधिकता के साथ वह आजकल साहित्य में व्यवहृत होती है, उतनी प्राचीन काल में नहीं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह प्रत्यय पुराना नहीं। खड़ी बोली ही में नहीं, गढ़वाली बोली में भी जिस पर मुसलमानी प्रभाव बहुत कम पड़ा है। यह प्रत्यय आट के रूप में विद्यमान है जैसे घबराट (घबराहट), गगड़ाट (गड़गड़ाहट), फफडाट या फड़फड़ाट (फड़फड़ाहट) इत्यादि। कभी-कभी ब्रजभाषा में भी इसका प्रयोग हो जाया करता था। कम-से-कम इसका तो स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि गोस्वामी जी के शिष्य वेणीमाधवदास (सं 1655-1689 के

लगभग *सरोज*) के समय में इस प्रत्यय का प्रयोग होता था। वेणीमाधवदास के समकालीन ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि बिहारी (सं. 1666-1720 रामचन्द्र शुक्ल) ने इस प्रत्यय का प्रयोग किया है। विश्वास न हो तो ये प्रमाण प्रस्तुत हैं—

कुंज भवन तजि भवन कौं, चलिए नन्द किशोर,
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चँहु ओर॥
खरैं अदब इठलाहटी, उर उपजावति त्रास,
दुसह संक विस कौ करै, जैसे सोंठ मिठासु॥
मार्‌यौ मनुहारिन भरी, गार्‌यौ खरी मिठाहि,
बाकौ अति अनखाहटौ, मुसकाहट बिनु नाहिं॥

(*बिहारी रत्नाकर*)

यह तो रहा तथ्यात्मक खण्डन, अब आचार्य द्विवेदी जी की शैली के अनुकरण की एक बानगी देखिए—"त्रिपाठी जी की यह करामात देखने योग्य है। हमारे तर्कों को उन्होंने लचर कहा है। बिना परिश्रम किए लिखने के लिए उन्होंने लोगों को बुरा-भला कहा है। किसी के प्रयत्नों को दुस्साहस कह देने में तो उनका कुछ लगता नहीं। वेणीमाधवदास को उन्होंने इन शब्दों में याद किया है—एक साधारण तुकबन्द ने ग़ैर ज़िम्मेदारी के साथ जो कुछ उसके मग़ज़ में से निकला या निकलवाया गया, बेसिर पैर के पद्यों में निकालकर रख दिया है। हमें उसका कहाँ तक विश्वास करना चाहिए। सब तो त्रिपाठी जी कह चुके हैं। हम उनकी कविजनोचित कपोल कल्पनाओं के लिए क्या कहें। यह है त्रिपाठी जी की खोज, जिसके बल पर उन्होंने हिन्दी के साहित्यिकों से सातवें आसमान पर से बातें करने का रुख़ पकड़ा है।"

प्रतिष्ठित प्रौढ़ व्यक्ति प्रायः नवागत साहित्यकारों की सम्भावनाओं को छोटा करके देखा करते हैं, पर यहाँ एक नाम ऐसा भी है जो इस रूढ़िवादिता का अपवाद है। वह नाम है प्राच्य विद्याओं के विख्यात विद्वान् डॉ. हीरालाल का। डॉ. हीरालाल खोज विभाग के निरीक्षक और बड़थ्वाल जी सहायक निरीक्षक पद पर कार्यरत थे। सन् 1933 में नागपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट्. की उपाधि तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने बड़थ्वाल जी को डी.लिट्. की उपाधि प्रदान की। इसे एक सुखद संयोग मानना चाहिए। पुरातत्त्व के क्षेत्र में डॉ. हीरालाल की तूती बोलती थी। सभा द्वारा प्रकाशित *शब्दसागर* के कोशोत्सव समारोह के अवसर पर बाबू श्यामसुन्दर दास के आवास पर बड़थ्वाल जी की भेंट डॉ. हीरा लाल से हुई थी। डॉ. हीरालाल की प्रतिभा मापिनी शक्ति ने बड़थ्वाल की शक्ति को पहली भेंट में ही परख लिया। उन्हीं के निर्देश पर नवयुवक को सभा में खोज का निरीक्षण

कार्य सौंपा गया। उन्हें बड़थ्वाल के भविष्य की बड़ी चिन्ता रहती थी। इसका एक उदाहरण यह है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त विवरण में जब उन्होंने बड़थ्वाल जी के डी.लिट्. पाने का समाचार नहीं पाया तो व्यग्र हो उठे। उन्होंने बाबू जी को पत्र लिखा और जब उनकी शंका दूर हो गई तो उन्होंने मुक्तभाव से बधाई पत्र भेजा। डॉ. बड़थ्वाल, डॉ. हीरालाल के इस अयाचित स्नेह और प्रोत्साहन को कभी नहीं भूले। डॉक्टर साहब के प्रति उनका आदर इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

"युवकत्व उनके लिए अभिनव उत्साह, उद्दाम साहस और अनवरत अध्यवसाय का प्रतीक था। युवकों में आत्मविश्वास, उत्साह, साहस और परिश्रम की ओर अभिरुचि भरना भी वे खूब जानते थे। वे स्वयं बड़े परिश्रमी थे; आयु के उस भाग में भी जो सामान्यतया विश्राम के लिए प्रायोजित समझा जाता है, वे परिश्रम करते ही रहते थे। उन लोगों का-सा क़ाग़जी परिश्रम नहीं जो सरकारी पेंशन फटकारते हुए भी सैंकड़ों रुपये मासिक बड़े आराम से डकारते रहते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विभाग का निरीक्षण कार्य बहुत परिश्रम साध्य है। उसे वे कई वर्षों से कर रहे थे, परन्तु उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। आँखें तो बहुत ख़राब हो गई थीं। इसलिए वे इस काम से धीरे-धीरे अवकाश ग्रहण करना चाहते थे। मुझे उन्होंने खोज विभाग में लेने की इच्छा प्रकट की। पर मुझे अपनी इच्छा शक्ति पर भरोसा न था। अधिक परिश्रम से भी डरता था। परन्तु उनके उत्साहवर्धक शब्दों में कुछ ऐसी शक्ति थी कि मुझे काम कर लेना स्वीकार ही करना पड़ा। यद्यपि बहुत जल्दी पिण्ड छुड़ाने की अन्दरूनी इच्छा बनी भी हुई थी। इसके बाद उनका साक्षात् फिर कभी नहीं हुआ, किन्तु उनकी चिट्ठियों में उनके दर्शन कभी-कभी मिलते रहे।"

डॉ. बड़थ्वाल के व्यक्तित्व और सर्जनात्मक कर्तृत्व को प्रभावित करने वाले ये चार आचार्य थे। इनसे उन्होंने व्यापक अध्ययन, ज्ञान-विज्ञान की सूचनाओं की जानकारी, सत्य के साथ साहित्यिक निष्पत्तियों का प्रतिपादन, निर्लोभ साहित्य सेवा, जनरुचि का साहित्यिक संस्कार तथा लोकसेवा का पाठ पढ़ा। अपने समकालीनों में वह अग्रणी व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी के निर्माण में लगे अपने गुरुजनों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया। हिन्दी में सर्वथा अज्ञात शोध मार्ग का अवरुद्ध द्वार खोला तथा प्राचीन और नवीन साहित्य पर एक साथ चिन्तन-मनन किया। उनके लेखन का आयाम बड़ा व्यापक है।

वह छायावाद पर ऐसी सुचिन्तित सामग्री प्रस्तुत करते हैं कि बाबू श्यामसुन्दर दास उसे विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित करने को उत्सुक हो उठते हैं पर

नियमों में बँधे होने के कारण ऐसा नहीं कर पाते। जहाँ वे एक ओर कबीर, सूर, तुलसी, केशव, मीरा, भूषण, जायसी, गोरख तथा विद्यापति के अनछुए पक्षों पर विचार करते हैं तो दूसरी ओर बाबू हरिश्चन्द्र, हरिऔध और तारा पाण्डेय के काव्य-सौन्दर्य के उद्घाटन में भी दत्तचित्त होकर प्रवृत्त होते हैं। वह हिन्दी की राष्ट्रीयतावादी देशभक्ति और प्रेमपूर्ण रचनाओं की निर्मल धारा का उत्स भारतेन्दु में ही देखते हैं जैसे बाबू जी ने केशव को रीतिकाव्य का प्रवर्तक आचार्य स्वीकार किया वैसे ही आधुनिक काव्यधारा का प्रवर्तक बड़थ्वाल जी ने भारतेन्दु को माना। हरिऔध जी की देशरति और जाति—देश प्रेमिनी नायिकाओं की उद्भावना के पीछे भी वह भारतेन्दु जी की ही प्रेरणा मानते हैं। बड़थ्वाल जी इतिहास की लुप्त कड़ियों को मिलाने के लिए साधनारत थे। परम्परा के बन्धन को छोड़ने के लिए वह तैयार न थे। प्रज्ञा का अवतरण तथा पुष्टिकरण परम्परा के देखे बिना नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा—''इसमें सन्देह नहीं कि परिस्थितियों के (राष्ट्रीय) इस परिवर्तन में हरिश्चन्द्र जी का बहुत कुछ हाथ रहा है क्योंकि साहित्य जन समाज की मानसिक अवस्था का परिचायक होने के साथ-साथ उसमें प्रगति उत्पन्न करने का कारण भी होता है। श्रीधर पाठक के *भारत गीत,* मैथिलीशरण गुप्त की *भारत भारती* तथा प्रसाद जी के 'निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष' आदि में जो निर्मल धारा बह रही है, उसका गोमुख हरिश्चन्द्र जी के काव्य में ही है।'' वह अतीत के साथ सम्बन्ध रखते हुए वर्तमान के साथ आगे बढ़ने के पक्षधर थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं सुमित्रानन्दन पन्त जैसे दिग्गजों ने जब ब्रजभाषा को अक्षम मान लिया, उसकी अतिशय शृंगार प्रवणता की निन्दा की तथा श्रीधर पाठक जैसे ब्रजभाषा के समर्थ कवि को खड़ी बोली में लिखने को विवश कर दिया, तब ब्रजभाषा के काव्य में उच्चादर्श प्रस्तुत कर 'हरिऔध' जी ने ब्रजभाषा को महिमामण्डित किया। उस समय प्रकाशित 'हरिऔध' जी के *रसकलश* को बुड़भस कह कर जब अग्राह्य बताया गया, तब हरिऔध जी के पक्ष में पण्डित किशोरीदास वाजपेयी और बड़थ्वाल जी ही आगे आए। श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय पर लगने वाले आक्षेपों का उत्तर देने में उनकी गुरुनिष्ठा भी सक्रिय रही है। उन्होंने 'ब्रजभाषा और रसकलस' लेख लिखकर विरोधियों का मुख बन्द कर दिया। उन्होंने ब्रजभाषा को उत्तरभारत का सांस्कृतिक माध्यम बताया। उन्होंने लिखा—''वह हमारी भक्ति भावना की विभूति की अनुपम निधि और साहित्य-सुषमा की अभिनव चित्रशाला है। वैष्णव आन्दोलन की कृपा से मध्ययुग में ही वह ब्रजभूमि की सीमा को लाँघ कर भारत व्यापिनी हो गई थी।

सहृदय भक्तमात्र, बिना किसी प्रान्त भेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा में ही भगवान् के सम्मुख आत्म निवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसी मेहता, चण्डीदास आदि सब मराठी, गुजराती, बंगाली, वैष्णव सन्तों ने ब्रजभाषा में अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रकट किया है। बंगाली भक्त समुदाय ने तो अपनी अलग ही ब्रजबुली बना डाली जो कृत्रिम होने पर भी ब्रजभाषा के अखिल भारतीय महत्त्व को प्रकट करती है।''

डॉ. बड़थ्वाल जी की यह सांस्कृतिक दृष्टि थी, वह भारत में अनेकता में एकता के दर्शन के समर्थक थे। साहित्य, कला और संस्कृति परस्पर एक-दूसरे से घुले-मिले होते हैं। इसे समझने के लिए ब्रजभाषा का जानना ज़रूरी है। वह लिखते हैं—''साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, संगीत और कला के क्षेत्र में भी बहुत काल से ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा है। संगीत की जितनी पक्की चीज़ें होगी प्रायः सब ब्रजभाषा की मिलेंगी। कला का आदर्श भी बहुत काल तक ब्रजभाषा काव्य ही के अनुरूप निर्मित होता रहा। जो शृंगार रसान्तर्गत नायिका भेद की बारीकियों को नहीं जानता, वह मध्ययुग की हिन्दू चित्रकारी को भी नहीं समझ सकता। अतएव साहित्य संगीत और कला, जो संस्कृत जीवन के आवश्यक उपादान हैं, ब्रजभाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। उनसे अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए ब्रजभाषा का ज्ञान आवश्यक है। वैसे भी समय की आवश्यकता यह है कि हिन्दी की समस्त उपभाषाएँ अपने पूर्ण सौन्दर्य और सामर्थ्य का प्रदर्शन करें जिससे खड़ी बोली उनसे अपने सौन्दर्य और सामर्थ्य की वृद्धि के लिए सामग्री चयन कर सके, अंग्रेज़ी आदि विदेशी भाषाओं से भी इस प्रकार के सामग्री-चयन का विरोध नहीं किया जाना चाहिए परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी ही की उपभाषाओं से खड़ी बोली जो कुछ ग्रहण करेगी वह उसके लिए अधिक स्वभावानुकूल और सौन्दर्य वृद्धिकर होगा और फिर ब्रज में तो साहित्य, संगीत और कला तीनों का समृद्ध संयोग है। इसी से कहना पड़ता है कि बड़े-बड़े शक्तिशाली विद्वानों का अपने को ब्रजभाषा विरोधी कहना ब्रजभाषा के लिए ही नहीं खड़ी बोली बोलने के लिए भी आने वाली एक अहितकर परिस्थिति की ओर संकेत करता है।''

स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में लिखा गया 'हरिऔध' जी का सम्पूर्ण काव्य देश की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करता है। वह प्राचीनता के उपासक और नवीनता के स्नेही हैं। प्राचीन और नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनोखा समन्वय स्थापित करना बड़थ्वाल जी की साहित्यिक चेतना का प्रमुख गुण

है। *रामचन्द्रिका* पर लिखी उनकी समीक्षा तथा तारा पाण्डेय की काव्यालोचना उनकी इसी प्रवृत्ति का फल है। वह *रसकलस* की विशेषता बताते हुए कहते हैं— ''भारत की वर्तमान परिस्थिति में युवक समाज, जाति तथा देश के उपकारक गुणों की ओर भी आकृष्ट होने लगे हैं। तदनुरूप उपाध्याय जी की नायिकाओं में भी हम देश प्रेमिका, धर्म प्रेमिका, जाति प्रेमिका आदि उत्तमा नायिकाओं के भेद पाते हैं। वास्तविक जीवन की इन आदर्श नायिकाओं की ओर पहले पहल उपाध्याय जी की ही मार्मिक दृष्टि गयी है। साहित्य के क्षेत्र में इन्हें स्थान उपाध्याय जी ने साहित्य की अवास्तविकता को हटाकर उसमें जीवन की आदर्शतथ्यता की प्राण प्रतिष्ठा की है। केवल शृंगार ही नहीं और रसों का भी उपाध्याय जी ने विस्तृत वर्णन किया है और जहाँ तक हो सका है उनमें देशोपकारक भावों को भरने का प्रयत्न किया है। हास्यरस के सम्बन्ध में अपने देश में प्रचलित कुरीतियों और युवकों के उच्छृंखल आचार-विचारों के सम्बन्ध में खूब फ़ब्तियाँ कसी हैं। इस प्रकार उपाध्याय जी ने ब्रजभाषा को वह सामग्री प्रदान की है जिससे वह वर्तमान में ग्रहीत होने योग्य हो जाए। जिससे पुरानी बात कहकर लोग उसे केवल स्मरण करने की चीज़ न समझें बल्कि उसका अनुशीलन भी करें।''

तारा पाण्डेय छायावाद की प्रमुख कवयित्री थीं। उनकी रचनाएँ महादेवीजी की तरह सौन्दर्य और पीड़ा के रेशमी धागों से बुने हुए दुकूल के समान आकर्षक और पवित्र थीं। यक्ष्मा ने उन्हें मृत्यु के निकट उस समय ला खड़ा किया था जब उनके मादक स्वप्नों का संसार आँखें खोल रहा था। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने उन्हें *शुकपिक* संकलन के साथ हिन्दी काव्यजगत् में उतारा था। तारा संध्या के नीलाभ गगन में उगे एकाकी तारा के समान थी, उसका पार्थिव जीवन वेदनामय था। निरन्तर अस्वस्थता और मृत्यु की विभीषिका से वह जीवन भर जूझती रही। गढ़वाल के होनहार कवि चन्द्रकुँवर बर्त्वाल यम के द्वार पर खड़े कविता लिखते रहे और स्वयं बड़थ्वाल इन दोनों की तरह जीना चाहते हुए भी अनिष्ट की आशंका और मृत्यु के अकाल भय से त्रस्त रहे। उन्होंने भावाभिव्यंजना में तारा को अपने मन के अधिक निकट पाया। उन्होंने लिखा, 'तारा की शिकायत है कि यह संसार स्वार्थी है, सुख में सब साथ देते हैं किन्तु दुःख में किनारा खींच लेते हैं। वह अश्रुमयी सारे विश्व को अपने अश्रुओं से परिपूर्ण देखती है। सर्वत्र उसे अपने ही दुःख की परछाईं दिखाई देती है।'

मेरे रोने से ही सूखे पत्तों ने रोना सीखा,
मेरे आँसू देख ओस ने फूलों को धोना सीखा,

मेरी साँसों से समीर ने निःश्वासें भरना सीखा।

सन्तकाव्य के अध्ययन में बड़थ्वाल जी ने सौन्दर्य बोधपरक रहस्यवाद की अवधारणा की पुष्टि में जो बातें कहीं हैं, वे तारा के काव्य कथनों से मेल खाती हैं। हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय ग्रन्थ के छटे अध्याय में बड़थ्वाल लिखते हैं— विरह की आग एक बार प्रज्वलित हो जाने पर फिर बुझना नहीं जानती। ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ पर यह वर्तमान न हो। प्रत्येक वस्तु जिसे आग को बुझाने वाला समझकर कोई व्यक्ति अपनाना चाहता है वह स्वयं जल उठता है, इसे बुझा नहीं पाता। तारा का कहना है कि विरह की आग से जलती हुई जब मैं तालाब के निकट जाती हूँ तो मुझे देखते ही वह स्वयं जलने लगता है। हे सन्तगण, मैं इसे जाकर अब कहाँ बुझाऊँ? फिर प्रेम की ज्वाला से जलती हुई मैं दुःखित हो रही हूँ। मैं पेड़ों की छाया में इसलिए नहीं जाती कि कहीं वे भी जल न उठें।

विरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊँ।
मो देख्यां जलहरि जलै, सन्तौ कहा बुझाऊँ॥
विरह जलाई मैं जलौं, मो विरहनि के दूख।
छांह न वैसों डरपती, मति जल ऊठै रूख॥

भय में भी आनन्द की प्रतीति प्रेमसाधना का अंग है। बड़थ्वाल जी की और तारा की रचनाओं में सन्तकाव्य का यही स्वर झंकृत होता सुनाई पड़ता है। दुःख में डूबा हुआ प्रेमी साधक यह भी नहीं देखना चाहता कि उसके लिए और कितनी आँखें उमड़ कर बह सकती हैं? उसका यह प्रश्न निःशेष और सनातन है—

हुआ अंत या अभी और है,
मुझे बताओ हे करुणेश।
सत्य बताना सत्यसिन्धु अब,
कितना शेष रहा है क्लेश?

बड़थ्वाल भी अन्त तक नियति के दर्दीले आघातों में यही प्रश्न करते रहे। जैसे उन्होंने तारा की कविता को लगने वाली बीमारी कहा है—"किससे कहूँ कौन सुन लेगा, इस जीवन की करुण कथा, बस डरती हूँ कहीं न लग जाए यह बीमारी मेरी" वैसे ही साहित्य साधना की जो बीमारी उन्हें लगी, वह उनके अन्तिम साँस लेने तक उनके साथ रही, उनके जीवन का क्लेश कभी समाप्त नहीं हुआ। उनके निर्वेद ने उन्हें सन्त कवियों के मन्दिर में समाधि का पात्र बना दिया, इसीलिए उनका लेखन आरोपित नहीं, सहज है, सन्तजीवन के बीच से उद्भूत हुआ है।

2

साहित्यिक कृतियाँ

डॉ. बड़थ्वाल ने फुटकर शोधपरक लेखों के अतिरिक्त *गोरखबानी, रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, सूरदास, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, योग प्रवाह, मकरन्द, संक्षिप्त राम चन्द्रिका* तथा हस्तलिखित ग्रन्थों का चौहदवाँ, पन्द्रहवाँ तथा सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण ग्रन्थों की रचना की। *गोस्वामी तुलसीदास* तथा *रूपकरहस्य* पुस्तकें बाबू श्यामसुन्दर दास के संयुक्त लेखन में तैयार कीं। कहते हैं, इन प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त *कबीर की साखी, सर्वांगी, हरिदास की साखी, रैदास की साखी, हरिभक्ति प्रकाश, सेवादास, नेपाली साहित्य* तथा *जोगेसुरी बानी* भाग-2 की रचना भी उन्होंने की थी पर उनके असामयिक निधन के कारण ये कृतियाँ प्रकाशित न हो सकीं। गढ़वाल में *गोरखाशासन, पवाड़े* या *गढ़वाल की वीरगाथाएँ* पुस्तकें भी आज उपलब्ध नहीं हैं। उनके द्वारा अंग्रेज़ी में लिखे गए निबन्धों का भी सम्पादन-प्रकाशन न हो सका। उनके निबन्धों को उनके निधन के बाद डॉ. सम्पूर्णानन्द तथा डॉ. भगीरथ मिश्र ने *योगप्रवाह* तथा *मकरन्द* नाम से क्रमशः प्रकाशित कराया। इनके निधन के बाद यह सारी सामग्री खुर्द बुर्द हो गई। कहते हैं इस अव्यवस्था के मूल में डॉ. बड़थ्वाल स्मारक ट्रस्ट का प्रमुख हाथ रहा है। श्री ललित प्रसाद नैथानी तथा श्री भक्तदर्शन जी ने उनके संगृहीत प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों की सूची तैयार कर सारी सामग्री ट्रस्ट के लिए प्राप्त कर ली थी। उन्होंने ही *योग प्रवाह* नाम से डॉ. बड़थ्वाल जी के कुछ निबन्ध डॉ. सम्पूर्णानन्द जी को सम्पादनार्थ सौंप दिए थे जो सन् 1946 में काशी विद्यापीठ से प्रकाशित हुए। डॉ. भगीरथ मिश्र ने उनके कुछ प्रमुख निबन्ध *मकरन्द* नाम से संकलित कर अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ

से मुद्रित कराए। गढ़वाली परवाणे या लोकोक्तियों पर सन् 1939 में श्री शालिगराम वैष्णव की पुस्तक का प्रकाशन डॉ. बड़थ्वाल ने अपनी देख-रेख में कराया। गढ़वाली साहित्य परिषद के तत्त्वावधान में नवोदित लेखक को प्रोत्साहन देने के लिए डॉ. साहब ने यह कृति तैयार कराई थी। *गद्य सौरभ* नामक एक पाठ्य पुस्तक उन्होंने आचार्य शुक्ल के साथ तैयार की। गढ़वाल के पंवाड़ों अथवा वीरगाथाओं का सम्पादन उन्होंने विशुद्धानन्द नाम से तैयार किया था। वह इन पंवाड़ों के माध्यम से इन वीरगाथाओं में निहित तन्त्र, मन्त्र, योग, ग्रामगीत शैली, इतिहास, गढ़वाली समाज तथा उसकी संस्कृति का अध्ययन करना चाहते थे। व्योमचन्द्र नाम से उन्होंने कुछ कहानियाँ तथा पंवाड़ों पर आधारित गढ़वाली में नाटक भी लिखे पर वे भी पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सके। श्री भक्तदर्शन, पूर्व शिक्षामन्त्री, केन्द्रीय सरकार तथा कुलपति, कानपुर विश्वविद्यालय यदि अपनी पुस्तक गढ़वाल की *दिवंगत विभूतियाँ* के द्वितीय खण्ड में बड़थ्वाल जी का परिचय देते हुए उनके अप्रकाशित ग्रन्थों और लेखों की तालिकाएँ दे देते तो शोधार्थियों का भला होता। श्री शालिगराम वैष्णव अध्यात्मवेत्ता, गीता के भाष्यकार तथा गीता परीक्षा केन्द्र के संचालक के रूप में प्रसिद्ध हुए। इनका निधन 80 वर्ष की आयु में हुआ। डॉ. बड़थ्वाल के सम्बन्ध में इन्हें सर्वाधिक जानकारी थी। *गढ़वाली परवाणें* पुस्तक डॉ. बड़थ्वाल ने ही उनसे लिखाई थी। पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने उसे धारावाहिक रूप में छापा और फिर उसकी अच्छी प्रस्तावना लिखकर उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया।

यह कहना आज कठिन है कि उनके अप्रकाशित साहित्य को ट्रस्ट के संचालकों ने प्रमाद से गँवा दिया या किसी अवांछित वर्ग ने उसे अपने निहित स्वार्थ के कारण नष्ट हो जाने दिया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के साहित्यान्वेषक श्री दौलतराम जुयाल ने इस ओर इशारा करते हुए *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय* पुस्तक के वक्तव्य में लिखा है—"कुछ दिनोपरान्त जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन से छपने के लिए जोगेश्वरी वाणी की माँग आई और यह बहुत खोजने पर भी न मिली तो हमारे कान खड़े हुए तथा हमें सन्देह हुआ। डॉ. बड़थ्वाल की वह भी एक महत्त्वपूर्ण कृति थी जिसको उन्होंने गम्भीर अध्ययन और खोज के पश्चात् लिखा था। इसकी ढूँढ़ सबसे पहले सामग्री की जाँच-पड़ताल करने और उसकी सूची बनाने के समय ही कर ली गई थी। उस समय उसके खो जाने की कोई भी चर्चा इन लोगों ने नहीं की थी परन्तु जब उनसे उस पुस्तक को सम्मेलन में भेजने के लिए कहा गया तो वे इधर-उधर की बात मिलाने लगे। इससे हमें अत्यन्त निराशा हुई

और हमें उनकी उत्तरदायित्वहीनता का परिचय मिला। ऐसी दशा में हम यह भी नहीं कह सकते कि डॉ. बड़थ्वाल की कितनी सामग्री नष्ट हो गई है।''

गोस्वामी तुलसीदास नामक पुस्तक सन् 1931 में हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से प्रकाशित हुई। इसे डॉ. बड़थ्वाल ने डॉ. श्यामसुन्दर दास जी के सहलेखक के रूप में तैयार किया था। इस पुस्तक का एक तिहाई भाग जीवनवृत्ताधारित था तथा एक चौथाई भाग में तुलसी साहित्य की आलोचना थी। सन् 1937 में रामनरेश त्रिपाठी ने इस पुस्तक के खण्डनार्थ *तुलसीदास और उनकी कविता* नाम से तीन खण्डों में जीवनवृत्त, भाषा, महाकाव्यत्व, काव्य सम्पदा तथा वाणी विलास पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थ लिखा। समग्र व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से यह ग्रन्थ नगण्य सिद्ध हुआ। समीक्षाशास्त्रीय सरणि के अभाव में यह ग्रन्थ बृहद्काय तो बना पर प्रभावी न बन सका। डॉ. बड़थ्वाल की पुस्तक ने डॉ. माताप्रसाद गुप्त को सन् 1937 में शोधप्रबन्ध लिखने के लिए प्रेरित किया। यह ग्रन्थ प्रायः जीवनवृत्त पर केन्द्रित है। इसका एक अध्याय मात्र तुलसी की कला पर केन्द्रित है। आचार्य शुक्ल की पुस्तक *गोस्वामी तुलसीदास, तुलसी ग्रन्थावली* की प्रस्तावना के रूप में लिखी गई थी। श्यामसुन्दर दास जी की पुस्तक के ठीक दो वर्ष बाद सन् 1933 में जीवन वृत्त वाले अंश को निकालकर शुक्ल जी ने तुलसी काव्य की समीक्षा *गोस्वामी तुलसीदास* नाम से प्रकाशित की। शुक्ल जी की यह कृति प्रौढ़ है और व्याख्यात्मक आलोचना का श्रेष्ठ नमूना भी। इस कृति की प्रशंसा करते हुए डॉ. बड़थ्वाल लिखते हैं—''उनके स्रष्टा स्वरूप ने उनकी आलोचनाओं को भी केवल आलोचना से ऊपर उठाकर वह रूप दे दिया है जिससे वे स्वयं रचनात्मक स्थायी महत्त्व की कोटि में आ गई। उनकी आलोचनाओं को पढ़ते समय केवल मस्तिष्क ही सक्रिय नहीं होता, हृदय का भी विस्तार होता है। *गोस्वामी तुलसीदास* में रामराज्य की व्याख्या पढ़ते हुए हृदय में अपने आप तरंगमालाएँ उठ आती हैं और ऐसे स्थल उनकी रचनाओं में विरल नहीं हैं।''

डॉ. बड़थ्वाल जी ने अपने ग्रन्थ के लिए वेणीमाधवदास के *मूल गोसाईं चरित* को आधार बनाया है। यही नहीं *मूल गोसाईं चरित* जीवनी निर्माण के क्षेत्र में पाँव रखने के लिए अन्य सामग्री की अपेक्षा दृढ़ आधार माना गया है, क्योंकि गोस्वामी जी की घटनाओं के यथाक्रम वर्णन की ओर *मूल गोसाईं चरित* और सब सामग्री से अधिक अग्रसर है तथा गोसाईं जी के लगभग समकालीन होने का उसका दावा है जो सर्वथा बनावटी भी नहीं लगता। इसीलिए हिन्दी के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ *पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा* ने भी कहा था—''बाबा वेणीमाधवदास के

लिखे हुए जीवन चरित के आधार पर गोस्वामी जी का जीवन चरित लिखने की बड़ी आवश्यकता है।''

रामनरेश त्रिपाठी ने *मूल गोसाईं चरित* को अप्रामाणिक माना तथा ग्रन्थ की गहरी जाँच-पड़ताल किए बिना ही यह धारणा बना ली कि *गोसाईं चरित* पद्य में लिखा गया है जिसका गद्यात्मक रूपान्तरण मात्र *गोस्वामी तुलसीदास* पुस्तक के लेखकों ने किया है। अत: पुस्तक मौलिक नहीं है। डॉ. बड़थ्वाल ने इस धारणा का ज़ोरदार खण्डन किया और कहा कि ग्रन्थ को आगे पढ़कर कोई भी यह देख सकता है कि वेणीमाधवदास की कही हुई प्रत्येक बात स्वीकार नहीं की गई है। जो बात जाँच में ठीक नहीं उतरी, वह सच्ची नहीं मानी गई। इस सम्बन्ध में और विद्वानों की सम्मति से भी लाभ उठाया गया है। और, असल बात तो यह है कि मूलचरित की जिन बातों का खण्डन करते हुए त्रिपाठी जी ने उसे अप्रामाणिक माना है, एकाध को छोड़कर उन सबका खण्डन हमारे ग्रन्थ में विद्यमान है।

मूल गोसाईं चरित पर सन् 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन इन्दौर के अधिवेशन में एक लेख लिखकर डॉ. बड़थ्वाल जी ने वाचनार्थ भेजा था। *गोस्वामी तुलसीदास* पुस्तक में समस्त उपलब्ध सामग्री की जाँच-पड़ताल करते हुए बाबू जी तथा डॉ. बड़थ्वाल ने तुलसी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है। कुल मिलाकर यह कृति जीवनीपरक आलोचना कही जा सकती है, सांगोपांग व्यावहारिक समीक्षा यहाँ भी उपलब्ध नहीं होती। शुक्ल जी ने जैसे *तुलसी ग्रन्थावली* की प्रस्तावना को ग्रन्थाकार रूप दिया, उसी प्रकार डॉ. बड़थ्वाल ने भी बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा लिखित इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित मानस के संस्करण की प्रस्तावना को ग्रन्थाकार रूप दिया। इसमें गोस्वामी जी के जीवन चरित तथा रचनाओं का विस्तृत विवरण दिया गया था। यदि डॉ. बड़थ्वाल इस कृति में तुलसी के काव्य कौशल पर विस्तार से लिखते तो यह कृति उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती जितनी शुक्ल जी की कृति है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास जी के साथ डॉ. बड़थ्वाल जी ने दूसरी पुस्तक *रूपक-रहस्य* लिखी। यह पुस्तक भी सन् 1931 में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के निर्माण में सात वर्ष लगे। बाबू जी ने कक्षा में नाट्यशास्त्र पढ़ाते हुए जो नोट्स लिखे, उन्हीं को पुस्तकाकार रूप डॉ. बड़थ्वाल ने दिया। इसीलिए भूमिका में डॉ. श्यामसुन्दर दास जी ने लिखा—''मुझे काशी विश्वविद्यालय के एम.ए. क्लास के विद्यार्थियों के लिए यह विषय प्रस्तुत करना पड़ा। पहले मैंने इस विषय की सामग्री प्रस्तुत करना आरम्भ किया था। जब पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो

गई तब यह इच्छा हुई कि यदि इसे लेख रूप में लिखा जाए तो विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी होगा। उस समय जितना हो सका, लेख रूप में लिख लिया गया और वह नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हो गया। शेष अंश अब तक न लिखा जा सका। पढ़ाने का काम प्रस्तुत सामग्री से लिया जाता था। बीच-बीच में अवकाश मिलने पर कुछ-कुछ लिख भी लिया जाता था। अन्त में, मेरे प्रिय विद्यार्थी पण्डित पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने यह इच्छा प्रकट की कि यदि सब सामग्री मैं उन्हें दे दूँ और अपना परामर्श देता रहूँ तो वे इस विषय को पुस्तक रूप में प्रस्तुत कर दें। मैंने सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और क्रमशः यह पुस्तक तैयार हो गई।''

इस पुस्तक के लिए उदाहरणों का संकलन अभिनवभरत पण्डित सीताराम चतुर्वेदी तथा पण्डित जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने किया। दोनों ही बाबू जी के विद्यार्थी थे। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष, जिन्होंने शुक्ल जी के बाद इस पद को सँभाला पण्डित केशव प्रसाद मिश्र ने इस पुस्तक के आठवें अध्याय 'रस प्रकरण' के लेखन में सहयोग दिया। इस ग्रन्थ में संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ *दशरूपक, रसार्णवसुधाकर, साहित्य दर्पण* तथा भरत मुनि के *नाट्यशास्त्र* को आधार बनाया गया है तथा प्रथम अध्याय के रूपक का विकास प्रकरण में भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा, नाट्यसाहित्य की सृष्टि, यूनानी नाट्यकला और उसका प्रभाव, रोम के नाटक, यूरोप के नाटक, अंग्रेज़ी नाटक, मिस्र के नाटक तथा चीन के नाटकों पर विचार किया गया है। इसके बाद रूपक के भेदों, नाट्य तत्त्वों, रूप रचना, रूपक तथा उपरूपक के भेदों, रसचक्र तथा भारतीय रंगशाला और प्रेक्षागृह पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक को पुरातात्त्विक सूचनाओं के आधार पर अद्यतन बनाने की भी चेष्टा की गई है। एक उदाहरण लें—''ऐसा विदित होता है कि पीछे से इन रंगशालाओं के निर्माण के ढंग पर विदेशीय प्रभाव भी पड़ा। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ स्थान में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षागृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाट्यशालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षागृह में कुछ चित्रकारी भी है, जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत कुछ मिट गई है; पर जो कुछ अंश बचा है उससे विदित होता है कि वह अंश कई बातों में भरत मुनि के *नाट्यशास्त्र* में बतलाई हुई चित्रकारी से मिलता है। प्रेक्षागृह के पास की दूसरी गुफा के भीतर अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि वह शिलालेख और गुफा ईसा से कम-से-कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नाम की किसी देवदासी ने नर्तकियों के लिए बनवाई थी।''

रस प्रकरण में रसनिष्पत्ति का सिद्धान्त भी समझाया गया है। रसों तथा भावों के उदाहरण तुलसी, पद्माकर, देव, केशव, बिहारी, आलम, कुन्दन, भूषण आदि प्राचीन कवियों के दिए गए हैं। *उत्तररामचरित* के ब्रजभाषा पद्यानुवाद भी उद्धृत हैं। *मालती माधव* तथा *वीर चरित* के अनुवाद भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं। *मालती माधव, वेणी संहार, रत्नावली, वासवदत्ता* जैसे संस्कृत नाटकों के अंश उद्धृत किए गए हैं पर आश्चर्य होता है कि नाट्य तत्त्व प्रस्तुत करते हुए जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककारों के नाटकों के उद्धरण क्यों नहीं दिए गए, क्योंकि यह पुस्तक हिन्दी विद्यार्थियों के लिए लिखी गई थी, संस्कृत के विद्यार्थी तो मूल आकर ग्रन्थ पढ़ ही लेते हैं।

सूरदास (जीवन-सामग्री) उनकी 65 पृष्ठों की लघु पुस्तिका है। इसका सम्पादन डॉ. भगीरथ मिश्र ने किया है। इस कृति के प्रकाशक हैं अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ। यह कृति यदि लेखक के जीवन काल में छपी होती तो इस सामग्री की अन्तरंग परीक्षा डॉ. जनार्दन मिश्र अपने शोधग्रन्थ *सूरदास*, डॉ. मुंशीराम शर्मा *सूरसौरभ* तथा डॉ. दीनदयालु गुप्त *अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय* ग्रन्थों में कर सकते थे। डॉ. बड़थ्वाल की पुस्तिका की विशेषता यह है कि यह कृति सूरदास विषयक बिखरी सामग्री का प्रथम बार एक स्थान पर संकलन है। बाबू राधाकृष्ण दास तथा मुंशी देवीप्रसाद द्वारा लिखित सूर की अलग-अलग छोटी जीवनियों से बड़थ्वाल जी ने इस कृति के लेखन में लाभ उठाया है। इस कृति का दोष यह है कि इसमें अष्टछापी सूरदास, सूरदास मदन मोहन तथा सूरदास बिल्वमंगल को एक कर दिया गया है। *साहित्य लहरी* के आधार पर सूर के काल का निर्णय, उनकी जन्मान्धता पर विचार, वैराग्यलाभ तथा दीक्षा आदि पर विचार किया गया है। डॉ. बड़थ्वाल सूर की दीक्षा 1584 सम्वत् में स्थिर करते हैं। बाद में डॉ. दीनदयाल गुप्त सप्रमाण यह समय 1566 सम्वत् सिद्ध करते हैं। डॉ. बड़थ्वाल जी सूर के पिता का नाम रामदास मानते हैं। *आईने अकबरी* के साक्ष्य से उन्होंने ऐसा कहा है पर अकबरी दरबार से सम्बन्धित सूरदास मदन मोहन सन्डीला वाले अष्टछापी सूर से भिन्न सिद्ध हो गए हैं। डॉ. बड़थ्वाल ने सर्वप्रथम यह घोषणा की कि तानसेन की मित्रता, वल्लभाचार्य की शिष्यता, वैष्णवों का सत्संग, स्वयं उनकी अपनी तल्लीनता और गान कुशलता, इन सबने मिलकर उनको अद्भुत काव्यस्रष्टा बना दिया।···यह भी निश्चय है कि उन्होंने *भागवत* के आधार पर जो पद गाए हैं, उनकी रचना ग्रन्थ प्रणयन के रूप में शृंखलाबद्ध नहीं हुई है। *साहित्य लहरी, सूरसारावली* तथा *सूरसागर* को वह प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं।···*साहित्य लहरी* की रचना केवल

भक्तिउद्रेक के कारण नहीं हुई है बल्कि काव्य चमत्कार दिखाने के लिए हुई है।···हमने सूरदास जी का जन्म लगभग सम्वत् 1563 में माना है। इसके अनुसार *साहित्य लहरी* की समाप्ति पर सूरदास की अवस्था 44 वर्ष की होगी, जो ऐसी मनोवृत्ति के लिए अनुपयुक्त नहीं है। *सूरसारावली* की रचना सूरदास जी ने 67 वर्ष की अवस्था में की। डॉ. बड़थ्वाल ने उस काल तक प्रचलित सूर की रचनाओं में *नलदमयन्ती* को प्रवाद माना था, क्योंकि यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। बाद में यह पुष्ट हो गया कि *नलदमन* सूफ़ी ढंग का प्रेमाख्यान है जो अष्टछापी सूर की रचना नहीं है।··· सूरदास जी गोसाईं बिट्ठलनाथ जी के सामने मरे। बिट्ठलनाथ जी की मृत्यु सम्वत् 1642 में हुई। इसलिए सूरदास जी की मृत्यु सम्वत् 1642 से पहले हुई होगी। ऊपर अबुलफ़ज़ल के जिस पत्र का हम ज़िक्र कर आए हैं, उससे पता चलता है कि सूरदास जी सम्वत् 1640 तक विद्यमान थे क्योंकि उसमें बादशाह के इलाहाबाद आने की सूचना दी है और इलाहाबाद की स्थापना सम्वत् 1640 में हुई, अतएव सूरदास की मृत्यु सम्वत् 1640 और 1642 के बीच किसी समय होनी चाहिए।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह कृति सूर की जीवनी प्रस्तुत करती है। उनके साहित्यिक सौन्दर्य पर प्रकाश नहीं डालती। साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त इतिहास ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री की भी परीक्षा की गई है। रचना को साधारण कोटि की समझना चाहिए।

रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ शोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसका प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सन् 1955 में हुआ। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक का सम्पादकीय लिखते हुए कहा—"*रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ* का सम्पादन स्व. डॉ. पीताम्बरदत्त जी बड़थ्वाल ने नाना स्रोतों से संकलित करके किया था। उनकी असामयिक मृत्यु से यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हो पाई थी और अधूरी भी रह गई थी। उस अधूरी पुस्तक को सम्भाल कर सिलसिलेवार लिखने का कार्य श्री पण्डित दौलतराम जी जुयाल ने किया।" रामानन्द जी की कुछ रचनाएँ तो इस कृति में डॉ. बड़थ्वाल द्वारा संकलित हैं, कुछ सभा में सुरक्षित उपलब्ध हैं तथा कुछ रचनाएँ श्री उदयशंकर शास्त्री से प्राप्त हुई हैं। रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द कृत *सिद्धान्त पंच मात्रा* को डॉ. बड़थ्वाल ने अपने *योग प्रवाह* में प्रकाशित कराया था। वह भी इस कृति के परिशिष्ट में संकलित कर दी गई है। इसी प्रवृत्ति की एक रचना *भगतिजोग* रामानन्द प्रणीत है और वह इस कृति के परिशिष्ट चार में संकलित है। कबीर के 'पतिव्रता कौ अंग' पर इसके केन्द्रीय भाव

का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। इस पुस्तिका पर डॉ. बड़थ्वाल की टिप्पणी है—"सब बातों का तारतम्य स्थापित करने से यह अनुमान होता है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उसे समय वहाँ योग सम्प्रदाय का बहुत प्रसार था। इस नवीन भक्ति के प्रभाव में योग सम्प्रदाय के बहुत लोग आ गए। परन्तु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गए थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिए हमें रामानन्द, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय मिलता है और यही बात इस पुस्तिका में पाई जाती है। गुरुप्रकारी में मिहीलाल ने राघवानन्द को अवधूत वेश वाला कहा है। अवधूत दत्तात्रेय के अनुयायी थे, जो पीछे गोरक्षादि के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आ गए। गोरखनाथी आदि में दत्तात्रेय को मानते हैं। योगियों के ही समान रामानन्द के वैरागी भी अपने को अवधूत कहा करते थे।"[1]

इसकी भूमिका बड़े महत्त्व की है। प्रारम्भ उच्छ्वासपूर्ण शैली में हुआ है—'युग-युग से जमा हुए घने अंधकार की, आकाश को छूती हुई दृढ़ प्राचीरें आत्मा को बन्दी बनाए रहती हैं। कड़ी लौह श्रृंखलाएँ व्यक्ति को अन्धविश्वासों से बाँधे रहती हैं। अन्याय की कारा में व्यक्ति का स्वातंत्र्य यन्त्रणा की असह्यता से कराहता रहता है। अवसाद भरा जगत् परित्राण की आशा को सर्वदा के लिए त्याग देता है। जान पड़ता है कि हँसती-खेलती सरलता का दिन कभी लौटेगा नहीं। सहसा एक दिव्य विभूति धरा पर उतर आती है और आन की आन में दुर्भेद्य प्राचीरें खड़खड़ ढह पड़ती हैं और लौह श्रृंखलाएँ झनझन टूट गिरती हैं, व्यक्ति की यन्त्रणाएँ फू उड़ जाती हैं और स्वातन्त्र्य का सूर्य उसे तपाये सोने की आभा से मढ़ देता है। मध्य युग के धार्मिक इतिहास में रामानन्द ऐसी ही विभूति थे।"[2]

स्वामी रामानन्द की रचनाओं में एक पद हनुमान की स्तुति, आदि ग्रन्थ में संकलित अन्तस्थ ब्रह्मोपासना विषयक एक पद, रज्जबकृत *सरबंगी* में संकलित भक्तिविषयक दो पद, 'बृहत्संग्रह' में संकलित आत्मानन्द विषयक दो पद तथा पुरोहित हरिनारायण के संवत् 1743 के संग्रह में संकलित एक पद की चर्चा के बाद *ज्ञानलीला, ज्ञानतिलक, योगचिन्तामणि* तथा *रामरक्षा* पर विचार किया गया है। *ज्ञान तिलक* से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि परम्परा के द्वारा जोगियों से जो शिक्षा

1. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ,* पृष्ठ 48
2. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ,* पृष्ठ 1

रामानन्द को मिली उसे ही उन्होंने कबीर को दिया। रामरक्षा में प्रचलित तन्त्र-मन्त्र के अतिरिक्त ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वित निरूपण है। *योग चिन्तामणि* भी अध्यात्म का ग्रन्थ है, जिसमें तीन मार्गों की समष्टि हुई है। रामानन्द छाप से एक पद्य *राममन्त्र* भी मिला है पर बड़थ्वाल जी उसे दादूपन्थी सन्त सुन्दरदास की रचना मानते हैं।

योग चिन्तामणि में रामानन्द ने सिद्धासन में बैठकर प्राणायाम करने और भ्रूमध्य दृष्टि का अभ्यास करने का आदेश दिया है। प्रमित दशाओं में साँस का प्रवाह नासिकारन्ध्रों से बारह-बारह अंगुल तक आता है, इसलिए इसे द्वादश पवन कहा जाता है। ''द्वादस पवन भर पीना, उलट घर शीश को चढ़ना, दो नैना कर बांन, भौंह उलटा कस कवांन, त्रिवेनी का असनान, तेरा मेट जाय आवा जांन।''

आचार्य शुक्ल इन रचनाओं को या इस धारा की रचनाओं को शुद्ध साहित्य नहीं मानते। बड़थ्वाल जी का कहना है कि संकुचित अर्थ में ये साहित्यिक रचनाएँ नहीं हैं। वैसे भी *ज्ञानतिलक, योग चिन्तामणि* और *रामरक्षा* कुछ विकृत रूप में हमें प्राप्त होते हैं। उनमें विशेषकर पिंगल के नियमों का पालन नहीं हुआ है। भाषा भी व्यवस्थित नहीं है। परन्तु इन सबका कारण रामानन्द को ही नहीं समझना चाहिए। प्रतिलिपिकारों के प्रमाद और स्मृति दोष से भी ऐसा होना सम्भव है और रामानन्द सरीखे दुष्प्राप्य रचनाकार के सम्बन्ध में और भी अधिक सम्भव है।[1]

रामरक्षा में भी योग की शब्दावली भरी पड़ी है—चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी और उन्मनी इन पाँच मुद्राओं का उल्लेख किया गया है। उन्मनी दृष्टि में ही ब्रह्मभाव की अनुभूति होती है। यह सब तनयोग है। मनयोग में सहजयोग आता है। तनयोग और कर्मकाण्ड इसके सामने व्यर्थ हैं। लुंचित, मुंचित, नागा तथा मौनी साधु बाहरी योग तथा तनयोग में लगे रहते हैं अत: वे निष्फल हो जाते हैं। क्रमश: जैन साधु, उदासी, दिगम्बर तथा यतियों का संकेत उक्त शब्दों से कराया गया है। मन का योग कठिन है। सुषुम्ना की घाटी में यह द्वन्द्व सम्पन्न होता है। नाम स्मरण का नगाड़ा यदि बजता रहे तो योगी का उत्साह बढ़ जाता है नाम स्मरण का महत्त्व अधिक है। नाम में सुरति (स्मृति) लगी रहनी चाहिए। सुरति में आत्मा निवास करता है। सुरति मन की वृत्तियों का परमात्मा की ओर उल्टा प्रवाह मात्र है। शरीर में सुरति है, सुरति में आत्मा है और आत्मा में परमात्मा है। *रामरक्षा* की पंक्तियाँ हैं—

---

1. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ*, पृष्ठ 3

गंग उलटी चलै, भानु पच्छिम मिलै निकसिया बिम्ब परकास कीया,
आत्मा माहि दीदार दरसता रहै यूँ अजराबर होय आपु जीया।

इस सुरति रूप प्रेमनद, (ध्यान से ध्येय के प्रति हृदय में उमड़ा प्रेम प्रवाह) का किनारा है निरति, आत्मा हंस है और प्रेमनद निरति में डुबकी लगाते रहना उसकी आनन्दलीला। रामानन्द को योग-साधना से यह अनुभव हो गया कि मन्दिरों और तीर्थों में केवल पाषाण और जल हैं। अब उन्हें चोवा चन्दन घिस कर शरीर को साम्प्रदायिक तिलकों से चिह्नित कर पूजार्थ कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। वह मन्दिर-मन्दिर पूजार्थ भटकते रहे परन्तु रामानन्द उस गुरु के कृतज्ञ हैं, जिसने उनके इस कर्मकाण्डीय भाव को ज्ञानाग्नि से जला दिया। अनिर्वचनीय ब्रह्म का साक्षात्कार हृदय में करा दिया।

डॉ. बड़थ्वाल की भूमिका मौलिक है। 'ऊरम धूरम ज्योति उजाला' जैसी पंक्तियों की व्याख्या उन्हीं के ज्ञान का फल है। गोरख आदि योगियों ने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है पर अर्थ जानने का कोई साधन प्राचीन-नवीन योग ग्रन्थों में भी नहीं है। पुराने अध्यात्ममार्गी साधकों के सम्पर्क से ही ऐसी अबूझ पंक्तियाँ समझी जा सकती हैं। बड़थ्वाल जी ने इन्हें पहली बार स्पष्ट किया है। वह कहते हैं—"इस प्रकार आत्मा जब सृजन की लहर के अधीन पड़कर स्थूल माया का भोग करता है तब वह उरम या उर्मि है। भगवद्प्रेम का ताप इस लहर को धूरम (धूम्र) में परिणत कर सूक्ष्मता की ओर ले जाता है। जब वह तल्लीनता की अवस्था में आनन्द ज्योति के दर्शन करता है तब ज्योति और जब साक्षात् ब्रह्मरूप हो जाता है, तब उजाला। प्राचीन शब्दावली का प्रयोग करें तो इनको विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुर्या कह सकते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय जीव की ये चार अवस्थाएँ इन्हीं कलाओं के अनुरूप हैं। इस प्रकार तन और मन के संयुक्त योग से साधक को अखण्ड सम्पूर्णता का अनुभव होता है।"[1]

इसके बाद डॉ. बड़थ्वाल रामानन्द सम्प्रदाय की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं। रामानन्द सम्प्रदाय के *वैष्णव मताब्जभास्कर, रामार्चन पद्धति* को वह उपजीव्य ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों ग्रन्थों का भी हिन्दी संसार में ऐसा सैद्धान्तिक अध्ययन-निरूपण उनसे पहले नहीं हुआ। मोक्ष, स्मृतिभक्ति, प्रपत्ति, साधनमार्ग, सम्प्रदाय तथा व्रतादि का परिचय देने के बाद उनकी संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा के समन्वय पर प्रकाश डाला गया है। प्रपत्ति रामानन्द का मुख्य

1. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ,* पृष्ठ 8

सिद्धान्त है। प्रपत्ति का अर्थ है स्वयं को भगवान् का शरणागत बना देना। प्रपत्ति में न्यास या त्याग की प्रधानता है। प्रवृत्ति की निवृत्ति ही न्यास है। प्रपत्ति में सबका अधिकार है—'सर्वेप्रपत्तेरधिकारिणोमता:' यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से रामानन्द रामानुज सम्प्रदाय का ही अंग है। *वैष्णव मताब्जभास्कर* के अनुसार रामानन्द स्वामी तिंगल कहलाते हैं। तिंगल भगवान् की कृपा अकारण या अहेतुक मानते हैं, इसके विपरीत बड़गली सकारण मानते हैं। तिंगलों के अनुसार निकृष्ट वर्ण के भगवद्भक्त भी सबके लिए पूज्य हैं। बड़थ्वाल जी ने इसके अतिरिक्त दोनों सम्प्रदायों में भेद भी बताया है—"रामानुज सम्प्रदाय में नारायण रूप में भगवान् की उपासना होती है, रामानन्द सम्प्रदाय में राम के रूप में"। रामानुज मत में अष्टाक्षर नारायण मन्त्र दिया जाता है, यहाँ षडक्षर राममन्त्र। वे शिवादि देवताओं से अनुकूल भाव नहीं रखते, यहाँ अनुकूल भाव रखा जाता है। उनमें संन्यासी कोई बिरले होते हैं प्राय: सब गृहस्थ होते हैं, इनमें विरक्त रहने की चाल है। वे जटाभस्मादि कदापि धारण नहीं करते, इनमें जटाधारी भस्मधारी विरक्त भी देखे जाते हैं। उनमें प्राय: गद्दीधर आचार्य ही दीक्षा दिया करते हैं, इनमें सभी महात्मा। वे अन्य वैष्णवों को हेय समझते हैं, इनमें अन्यों के साथ सौहार्द रहता है, और खान-पान, सेवा-सत्कार भी चलता है। उनके यहाँ गद्दियों में माला या चरनपादुका नहीं रहती, इनके यहाँ पूजी जाती है। उनके मन्दिरों में श्री शठकोप आदि के विधान ही अलग होते हैं, इनके यहाँ नहीं। इनके यहाँ स्वभावतया रामानन्द से इधर के ही गुरुओं की प्रधानता मानी जाती है। उधर वालों की उतनी नहीं।"[1]

स्वामी रामानन्द प्रणीत संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थों में तात्त्विक भेद है। *वैष्णव मताब्जभास्कर* साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, हिन्दी रचनाएँ पृथक् परिपाटी की परम्पराबद्ध रचनाएँ हैं। इनमें साम्प्रदायिक लक्षण है ही नहीं। इतने पर भी दो बातें बड़थ्वाल जी ने महत्त्वपूर्ण रेखांकित की हैं जो उनके विचारों को समझने में सहायक हो सकती हैं। "हिन्दी रचनाओं में सुरति को जो महत्त्व दिया गया है, वही *मताब्जभास्कर* में संस्मृति का है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से सुरति और स्मृति एक ही हैं। संस्कृत का स्मृति ही हिन्दी सुरति हो गया है। इनमें रूप ही का नहीं अर्थ का भी कोई भेद नहीं है। साधन की दृष्टि से भी सुरति और स्मृति एक ही हैं। भास्कर में स्मृति को यहाँ तक महत्त्व दिया गया है कि प्रपत्ति का भाव यदि टूट जाए तो की हुई प्रपत्ति के स्मरण से प्रायश्चित्त हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्मृति शब्द का

1. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ* पृष्ठ 23

प्रयोग ढीला-ढाला-सा नहीं हुआ है। इसका अर्थ पूर्वानुभूत की पुनरनुभूति के उद्देश्य से मन का उसकी ओर बहाव है। वह उलटा प्रवाह है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमतत्त्व, जिसका हिन्दी रचनाओं में स्पष्ट उल्लेख है, उसको *भास्कर* ने भी स्वीकार किया है। ईश्वर और जीव के जितने सम्बन्ध माने गए हैं। उनमें भार्याभिर्तृत्व, भोग्यभोक्तृत्व आदि भी हैं। भोग्यभूत जितने विषय विश्व में है, उन सबका रमाणाश्रयत्व राम में है।"[2]

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह कही गई है कि बौद्धों का निरात्मवादी शून्यवाद धीरे-धीरे परिवर्तित होता गया और गौड़पाद तथा शंकराचार्य में आकर यह आत्मवादी अद्वैतवाद हो गया। कालान्तर में योगियों की विचार पद्धति सर्वथा अद्वैतवाद के अनुकूल हो गई। रामानन्द ने पहले शिक्षा काशी में किसी अद्वैतवादी आचार्य के यहाँ पाई। कार्पेन्टर ने अपने *'थीइज्म'* में यह लिखा है। उधर सर्वथा अद्वैतवादी मत को मानने वाले निर्गुणी कबीर उनके शिष्य हुए हैं। इसी प्रकार निरंजनी जो उनसे अपनी परम्परा मिलाते हैं, अद्वैतवादी हैं। यही बात नाथ पन्थी योगियों के सम्बन्ध में है। रामानन्द के गुरु राघवानन्द भी स्वयं अद्वैत को मानने वाले थे। इस प्रकार रामानन्द एक सम्प्रदाय में सीमित रहने वाले व्यक्तियों में नहीं हैं, उनका प्रभाव बड़ा विस्तृत था। रामानन्द सम्प्रदाय तो उनका है ही, इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र में नाथपन्थी उन्हें अपनाते हैं। उनका वैरागी समाज इस बात का पुष्ट प्रमाण है जिसमें केवल नीच जाति के ही शिष्य नहीं हैं, प्रत्युत एक जात मुसलमान भी प्रमुख शिष्य हो गया, जिसने हिन्दुओं के दार्शनिक सिद्धान्तों का अत्यन्त प्रचार किया। उनके शिष्य सुरसुरानन्द के सम्बन्ध में नाभाजी ने कहा है कि उनके मुख में म्लेच्छ की रोटी भी तुलसीदल हो जाती थी। स्वामी रामानन्द का समय सन् 1491-92 तक स्वीकार कर सकते हैं। *योग प्रवाह* में बड़थ्वाल जी ने कहा है कि उत्तर में रामोपासना स्वामी राघवानन्द लाए। डॉ. श्रीकृष्णलाल ने डॉ. बड़थ्वाल की इस मान्यता को पुष्ट किया है कि रामानन्द राघवानन्द के शिष्य होने से पूर्व शैव थे तथा शांकर सिद्धान्त के सम्पर्क में आ चुके थे। योग सम्प्रदाय और वैष्णव सम्पद्राय के समन्वय का श्रेय रामानन्द जी को है। हिन्दी की निर्गुण तथा सगुण रामभक्ति धारा में यह समन्वय प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

निष्कर्ष रूप में यह कृति हिन्दी के भक्तिकाव्य की अन्तर्वर्ती धारा को स्पष्ट करती है। डॉ. बड़थ्वाल की यह उपलब्धि है।

---

2. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ*, पृष्ठ 24

डॉ. बड़थ्वाल की अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है *गोरखबानी*। इसमें गोरख तथा उनके अनुयायियों की बानी संकलित है। इस कृति का प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सन् 1942 में हुआ था। सम्मेलन के साहित्यमन्त्री रामचन्द्र टण्डन ने इस रचना के बारे में लिखा है—"विद्वान सम्पादक ने इन रचनाओं को, कम-से-कम आधे दर्ज़न से अधिक प्रतियों का मिलानकर अनेक पाठभेदों के साथ प्रकाशित कराया है और उनका अनुवाद करते अथवा उन पर यथास्थल टिप्पणी आदि देते समय हिन्दी, संस्कृत व प्राचीन हिन्दी टीकाओं से भी थोड़ी-बहुत सहायता ली है। संग्रह में पदों व सबदियों के अतिरिक्त लगभग एक दर्ज़न छोटे-छोटे फुटकर ग्रन्थ भी आ गए हैं, जिनमें से दो की रचना गद्य में हुई है। *गोरखबानी* विषय, भाषा, शैली आदि अनेक दृष्टियों से अध्ययन के उपयुक्त एक महत्त्वपूर्ण संग्रह है, जिसका हिन्दी साहित्य के प्रेमियों द्वारा समुचित स्वागत होना चाहिए।"[1]

इस कृति में 'सबदी', 'पद' (राग सामग्री), 'सिष्यादर्शन', 'प्राणसंकली', 'नरवैबोध', 'आत्मबोध', 'अभैमात्राजोग', 'पन्द्रहतिथि', 'सप्तवार', 'मछीन्द्रगोरखबोध', 'रोमावली', 'ग्यानतिलक' तथा 'पंचमात्रा' का संकलन किया गया है। परिशिष्ट एक में 'गोरख गणेश गुष्टि', 'गोरखदत्त गुष्टि' (ज्ञान दीपबोध), 'महादेव गोरखगुष्टि', 'सिस्ट पुराण', 'दयाबोध' तथा कुछ पद शीर्षक से तथा परिशिष्ट दो में 'सप्तवार नवग्रह', 'व्रत', 'पंच अग्नि', 'अष्टमुद्रा', 'चौबीस सिद्धि बतीस लछन', 'अष्टचक्र' और 'रहरास' शीर्षक रचनाएँ दी गई हैं। परिशिष्ट तीन में गोरख के 26 पदों का अपने ढंग का एक 'सुन्दर तिलक' संकलित किया गया है, जो किसी निरंजनी साधु का लिखा हुआ है। अन्त में शब्द संग्रह है, जहाँ बानी में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ दिए गए हैं। कुल मिलाकर यह कृति शोध, समीक्षा, टीका तथा सम्पादन का उत्कृष्ट उदाहरण कही जा सकती है।

हिन्दी में कबीर को सिद्ध सम्प्रदाय से जोड़ना कठिन कार्य था, पर यह दुष्कर कार्य भी बड़थ्वाल जी ने कर दिखाया। उन्होंने भूमिका में लिखा—"कबीर का सम्बन्ध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है। भोटिया साहित्य की सहायता से हम सिद्धों की धारा को बारहवीं शताब्दी तक ला सकते हैं। लेकिन बाद की—कबीर तक की तीन शताब्दियों को भरना असम्भव-सा मालूम होता है।" भदन्त राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक लेख में ऐसा लिखा। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने इतिहास में इस पर टिप्पणी करते हुए कहा—"किन्तु मैं समझता हूँ कि यह

1. *गोरखबानी*, पृष्ठ 7

आसान है, यदि सिद्धों के साथ नाथ सम्प्रदाय वालों को भी सम्मिलित कर लिया जाए।'' मैं नहीं कह सकता कि इस बहुत ही स्पष्ट विकास की ओर राहुल जी की दृष्टि क्यों नहीं गई।''[1] जो बात राहुल जी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्याय जी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने हिन्दी काव्य में 'योग प्रवाह' शीर्षक मेरा निबन्ध था, जो राहुल के सामने नहीं था। (यह व्याख्यान दिसम्बर 1930 में नागरी प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव के अवसर पर साहित्य परिषद् में दिया गया था।) इस निबन्ध में मैंने पहले पहल नाथ योगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था। इस संक्षिप्त परिचय से ही विद्वानों ने मान लिया कि नाथ योगियों की बानियाँ हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इससे उनके संग्रह और सम्पादन की आवश्यकता स्पष्ट है। जिस कार्य को मैंने इस ग्रन्थ *जोगेसुरी बानी* में किया है।''[2]

बड़थ्वाल जी ने *सबदी* को गोरखनाथ की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है। 'अवलि सिलूक' और 'काफिर बोध' को रतननाथ की रचना सिद्ध किया है। इसी मत को आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है। गोरखनाथ को वह विक्रम की ग्यारहवीं शती में रखते हैं। ये रचनाएँ जैसी उपलब्ध हुई हैं, उन्हें देखते हुए इन्हें ठीक उसी समय का नहीं कहा जा सकता परन्तु इनमें प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि सम्भवत: इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती में ही हुआ था। तात्पर्य यह कि बौद्ध सिद्धों के दोहों तथा चर्यागीतियों के बाद कबीर आदि से पूर्व मध्यवर्तिनी वाणी गोरख तथा नाथ योगियों की है।

गोरखबानी में एक कठिन किन्तु मौलिक कार्य पदों की टीका का है। यह कार्य अन्य के बूते का था भी नहीं। यह सच है कि यदि वर्तमान युग में लाला भगवानदीन न होते तो केशव के ग्रन्थों की टीका न हो पाती और यदि बड़थ्वाल न होते तो गोरखबानी का मर्म भी उजागर न हो पाता। पाठ सम्पादन और टीका एक दूसरे के पूरक हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके शिष्य पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। बड़थ्वाल और मिश्र जी का यह कार्य हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार ही नहीं करता, उन्हें साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित भी करता है। टीका का एक नमूना लीजिए—

---

1. *हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास,* पृष्ठ 175-76
2. *गोरखबानी,* पृष्ठ 11

चीटी केरा नेत्र मैं गज्येंद्र समाइला,
गावड़ी के मुष मैं बाघला बिवाइला,
बारें बरसैं बंझ ब्याई हाथ पाव टूटा,
बदन्त गोरषनाथ मछिन्द्र ना पूता।

—इस प्रकार चींटी की आँखों में गजेन्द्र समा जाता है (अर्थात् सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक समा गया।) गाय के मुँह में बाघिन बिआ जाती है अर्थात् इसी भौतिक जीवन में उसको नाश करने वाला आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। बारह वर्ष में बाँझ ब्यायी है पर इस प्रसूति में उसके हाथ-पाँव टूट गए हैं, वह निकम्मी हो गई है—यह मछन्दर के शिष्य गोरखनाथ का कथन है। मायिक जीवन निष्फल होता है, इसलिए उसे बाँझ कहा है परन्तु बड़ी साधना के अनन्तर इसी मायिक जीवन में ज्ञान की भी उत्पत्ति हो जाती है, यही बाँझ का बिआना है। जब ज्ञानोदय हो जाता है तब माया शक्तिहीन हो जाती है, यही उसके हाथ पाँव टूटना है।'[1]

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा,
गगन सिखर महिं बाल बोलै ताक नाँव धरहुगे कैसा।

परमतत्त्व तक किसी की पहुँच नहीं है (अगम)। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है (अगोचर)। वह ऐसा है कि न हम उसे बस्ती कह सकते हैं और न शून्य। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है (बस्ती) और न यह कि वह कुछ नहीं है (शून्य) अर्थात् भावाभाव विनिर्मुक्त। वह भाव (बस्ती) और अभाव (शून्य), सत् और असत् दोनों से परे है। (विशेष ज़ोर देने की दृष्टि से 'सुन्यं न बस्ती' कहकर इसी बात को फिर से दोहराया है) वह आकाश मण्डल में बोलने वाला बालक है। (आकाश मण्डल में बोलने वाला इसलिए कहा कि शून्य अथवा आकाश या ब्रह्मरन्ध्र में ही ब्रह्म का निवास माना जाता है, वहीं पहुँचने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। वहीं आत्मा को ढूँढ़ना चाहिए।) बालक इसलिए कि जिस प्रकार बालक पाप-पुण्य से अछूता है (अपापविद्धम्) उसी प्रकार परमात्मा भी। जरा-मरण से दूर, काल से अस्पृष्ट सतत् बालस्वरूप ही योगियों का साध्य आदर्श है। इसीलिए 'गोरखगोपालं बूढ़ा बालं' कहे जाते हैं। उनका नाम ही कैसे रखा जा सकता है? क्योंकि वह तो नाम और रूप दोनों उपाधियों से परे हैं।[2]

---

1. *गोरखबानी*, पृष्ठ 129
2. *वही*, पृष्ठ 21

डॉ. बड़थ्वाल जी ने पाठ्यपुस्तक के रूप में *संक्षिप्त रामचन्द्रिका* का सम्पादन किया। सन् 1933 में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। सम्पादन की दृष्टि से तो इस पुस्तक में कोई नवीनता नहीं पर एक महत्त्वपूर्ण समीक्षा भूमिका के रूप में लिखकर उन्होंने केशव के महत्त्व को प्रतिपादित किया। उनसे पूर्व रीतिकाव्य मर्मज्ञ लाला भगवानदीन ने *कविप्रिया* तथा *रामचन्द्रिका* की अलंकार निर्देशपूर्वक टीका की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दर दास तथा श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने अपने ग्रन्थों में केशव के काव्य का मूल्यांकन किया। 'हरिऔध' जी ने भी केशव पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखा। इन सबमें यदि विद्वत्तापूर्ण शोधस्तरीय समीक्षा के दर्शन होते हैं तो केवल कृष्णशंकर शुक्ल की पुस्तक *केशव की काव्यकला* में। इसी कृति से प्रेरित होकर बड़थ्वाल जी ने उसी साल संक्षिप्त *रामचन्द्रिका* का सम्पादन किया। डॉ. शभुनाथ सिंह इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने *रामचन्द्रिका* की जो प्रस्तावना लिखी है उसमें केशव के काव्य का बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से मूल्यांकन किया गया है। बड़थ्वाल जी ने *रामचन्द्रिका* को शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य मानते हुए भी उसमें यह मत व्यक्त किया है कि महाकाव्य को महान् होने के पहले काव्य होना चाहिए। *रामचन्द्रिका* में प्रबन्धत्व, सूक्ष्म निरीक्षण, क्रान्तदर्शिता, संवेदनशीलता, मर्मस्पर्शिता आदि काव्यगुणों का इतना अभाव है कि बड़थ्वाल जी उसे उच्चकोटि का काव्य मानने को तैयार नहीं है। वे दरबारी वाग्वैदग्ध्य और कल्पना के अद्‌भुत चमत्कारों को काव्य का लक्षण नहीं मानते। इसी कारण केशव के काव्य की उन्होंने कड़ी आलोचना की है।"[1]

संक्षिप्त रामचन्द्रिका के संकलनकर्ता केशव मर्मज्ञ लाला भगवानदीन तथा सम्पादक पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल थे। तब तक बड़थ्वाल जी ने रीतिकाव्य पर कोई कार्य नहीं किया था। यह पुस्तक इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। इस कृति में *रामचन्द्रिका* का पाठ स्थिर किया गया है। मूल *रामचन्द्रिका* प्रकाशों में विभाजित है पर *संक्षिप्त रामचन्द्रिका* से प्रकाशों को हटाकर काण्डों में बदल दिया गया है। पाद टिप्पणियाँ देकर कठिन शब्दों के अर्थ तथा यथास्थान प्रसंग-गर्भ कथाओं का निर्देश कर विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों के लिए सुविधा जुटा दी गई है यद्यपि बुन्देलखण्डी शब्दों का अर्थ लाला जी ने ही दे दिया था। *रामचन्द्रिका* के उत्तमांश संकलित किए गए हैं, अनावश्यक, कम आवश्यक और दुरूह अंश छोड़ दिए गए हैं। डॉ. बड़थ्वाल जी ने विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों के लाभार्थ एक

---

1. *हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास*, भाग 13—डॉ. लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'

समग्र प्रस्तावना लिखकर इस कृति को पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। भूमिका में बड़थ्वाल जी लिखते हैं—"स्वर्गीय लाला जी केशव के बड़े भक्त थे। उनके प्रेतकाव्य के उद्धार का कार्य वही आरम्भ कर गए थे। उन्हें उनके अच्छे-अच्छे ग्रंथों पर सुन्दर और सरल टीकाओं का अभाव खटकता है जैसा कि पहले संस्करण की भूमिका में उन्होंने प्रकट किया है। अपनी इहलोक लीला संवरण करने के पहले आप *रामचन्द्रिका* और *कविप्रिया* पर उत्तम टीकाएँ प्रस्तुत कर अपने पाण्डित्य का प्रसाद हमें दे गए। केशव के ग्रन्थों के सुन्दर-सुन्दर अंशों का उन्होंने *केशव पंचरत्न* में संग्रह किया। परन्तु उनके बाद अब यह उद्धार कार्य बिल्कुल बन्द-सा हो गया है। यदि केशव के शेष ग्रन्थों का भी उद्धार हो जाए तो लाला जी की स्वर्गस्थित आत्मा को बड़ा सन्तोष होगा।"[1]

इस पुकार ने लाला जी के पट्टशिष्य तथा बड़थ्वाल जी के सहयोगी प्राध्यापक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को इस उद्धार-कार्य के लिए प्रेरित किया। पहले उन्होंने *रसिकप्रिया* पर *प्रियाप्रसाद तिलक* लिखकर केशव की बृहत् त्रयी को पूर्ण किया और बाद में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुरोध पर केशव के समग्रकाव्य का तीन खण्डों में पाठ सम्पादन कर *केशव ग्रन्थावली* का हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशन कराया। इस प्रकार केशव के ग्रन्थों का उद्धार पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की प्रेरणा से विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया।

बड़थ्वाल जी की प्रस्तावना में गहराई है, बात सूत्र रूप में कही गई है पर काव्य-सौन्दर्य निर्देश करते हुए भावयोजना और रस को प्रमुखता प्रदान की गई है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ लीजिए—"केशव की बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दरजे का। *रामचन्द्रिका* सुन्दर और सजीव वार्तालापों से भरी हुई है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद, अंगद-रावण संवाद, लव विभीषण संवाद सब एक से एक बढ़कर हैं। व्यंजनाएँ कई स्थानों पर बहुत अच्छी हुई हैं पर वस्तु या अलंकार की, भाव की नहीं—

कैसे बँधायो? जो सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो"

(हनुमान जी कहते हैं कि हे रावण, मैंने तेरी सोती हुई स्त्री को देखा भर था, इस पाप से बाँधा गया हूँ पर तेरी क्या दशा होगी जो पराई स्त्री को पाप बुद्धि से हर लाया है; यह व्यंजित है।)[2]

---

1. *संक्षिप्त रामचन्द्रिका*, भूमिका, पृष्ठ 3
2. *वही*, प्रस्तावना, पृष्ठ 29

'क्लिष्टता की दृष्टि से लोग उनकी तुलना मिल्टन से करते हैं। मिल्टन से उनकी इतनी और समानता है कि उन्होंने भी प्रकृति का परिचय कवि परम्परा से पाया है। मिल्टन लावा (लार्क) पक्षी को खिड़की पर ला बैठाते हैं तो ये कहीं बिहार की तरफ़ विश्वामित्र के तपोवन में 'एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं' कहते चलते हैं। मालूम होता है कि प्रकृति के बीच में आँखें बन्द करके जाते थे क्योंकि प्रकृति के दर्शन से कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनन्द से नाच उठता। प्रकृति के सौन्दर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं है जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख-दुःख के लिए सहानुभूति ढूँढ़ सकता है, जीवन का स्पन्दन देख सकता है, परमात्मा के अन्तर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। फूल उनके लिए निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियाँ बेमतलब बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। प्रकृति में वे कोई सौन्दर्य नहीं देखते।''[1]

''यदि केशव मनोवृत्तियों से परिचित होते तो इस अवसर पर इस अपील में उनकी सीता अपना हृदय खोलकर रख देती; अपनी निस्सहाय अवस्था का ज़िक्र करती, अपने हर्ता की क्रूरता का बयान करतीं, उसे कोसतीं, केवल लंकाधिनाथ कहकर न रह जाती; लक्ष्मण को बुरा-भला कहने तथा उनका आदेश न मानने के लिए अपने आपको धिक्कारती, अपने पर व्यंग्य छोड़ती। पर इस तार ख़बर में क्या है? और कहाँ तक आत्मीयता झलकती है? रमन हा रघुनाथ धीर, हा पुत्र लक्ष्मण को छोड़कर कौन बात ऐसी है जिसको आपत्ति में पड़ी हुई स्त्री दूसरे के प्रति नहीं कह सकती? रामकथा में हृदयस्पर्शी स्थलों की कमी नहीं है जिनमें कवि अपनी भावुकता के विकास का प्रकाश दिखला सके। वाल्मीकि, तुलसी आदि केशव से पहले के कवियों ने ऐसे स्थलों का खूब उपयोग किया है। परन्तु केशव उनसे उचित लाभ नहीं उठा सके।''[2]

बड़थ्वाल जी की प्रस्तावना अत्यन्त कठोर है। एक प्रकार से आचार्य शुक्ल के इस आक्षेप को कि केशव हृदयहीन कवि है, यह पुष्टि करती है। लालाजी के निधन के बाद यह विवाद और गहराता गया। बड़थ्वाल जी की आलोचना व्यापक धरातल पर आधारित है, उसका फलक विस्तीर्ण है, उसमें शोध भी है। 'रत्नाकर' जी ने बिहारी के पिता केशवराय और कवि केशव को एक मान लिया था पर बड़थ्वाल जी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा कि इसके मानने में सबसे बड़ी

---

1. *संक्षिप्त रामचन्द्रिका*—प्रस्तावना, पृष्ठ 31
2. वही 23

अड़चन यह है कि केशवराय सखी सम्प्रदाय के थे और केशव दास ने *विज्ञान गीता* में सखी सम्प्रदाय का विरोध किया है। अतएव बिहारी उनके पुत्र नहीं, शिष्य थे।''[1]

गोसाईं तुलसीदास से केशव के साक्षात्कार की बात वेणीमाधवदास ने अपने *मूल गोसाईं चरित* में लिखी है। कहते हैं कि घनश्याम सुकुल, घासीराम, बलभद्र आदि कवि गोसाईं जी के दर्शनों के लिए गए हुए थे; इसी समय केशव भी उनसे मिलने के लिए पहुँचे। शिष्यों ने जब उनके आने की ख़बर गोसाईं जी के पास अन्दर भेजी तो उन्होंने कहा—प्राकृत कवि केशवदास को ले आओ। केशव ने यह सुन लिया। उन्होंने समझा, इन्हें *रामचरितमानस* रचने का बड़ा गर्व है उसे दूर करना चाहिए और उलटे पावों वापिस आकर उन्होंने एक ही रात में *रामचन्द्रिका* बनाकर दूसरे दिन तुलसीदास को दिखा दी। 'यह कथानक स्पष्ट ही असत्य नहीं तो अतिरंजित अवश्य हैं'', यह कहकर बड़थ्वाल जी समाधान प्रस्तुत करते हैं कि वेणीमाधवदास के अनुसार यह घटना सम्वत् 1640 की होनी चाहिए परन्तु *रामचन्द्रिका* में रचनाकाल सम्वत् 1658 दिया हुआ है। हो सकता है कि तुलसीदास जी के कहने से ही केशवदास जी ने *रामचन्द्रिका* की रचना की हो।''[2]

मध्यकालीन भारतीय महाकाव्यों पर संस्कृत महाकाव्यों का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। तुलसी और केशव भी इसके अपवाद नहीं हैं। कुछ भारतीय आलोचकों ने इस प्रभाव को यदि इनकी बहुज्ञता मानकर इसे विशेषता कहा है तो कुछ ने इसे इनके ग्रन्थों की सीमा बताया है। वस्तु के अभाव में केवल वर्णन बहुलता के आधार पर लिखे गए संस्कृत महाकाव्यों को अलंकृत कोटि का महाकाव्य कहा गया है। हिन्दी में केशव के आलोचकों ने उन्हें इसी आधार पर अलंकृत कोटि का महाकाव्यकर्ता माना है। उनके वर्णन संस्कृत महाकाव्यों के पंक्तिशः अनुवाद हैं। इस पर डॉ. बड़थ्वाल की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है और वह स्पष्ट लिखते हैं—'' *रामचन्द्रिका* में इससे आगे बढ़कर काव्यों के कई अंशों का शब्दशः अनुवाद भी मिलता है। ऐसे अधिकांश अंश *कादम्बरी* से लिए गए हैं। नगर, आश्रम इत्यादि के जितने लम्बे-लम्बे वर्णन मिलते हैं, उन सबमें *कादम्बरी* की छाया है। संवादों में *प्रसन्नराघव* तथा *हनुमन्नाटक* से कम अंश नहीं लिया गया है। भास के *बालचरित* और कालिदास के *रघुवंश* आदि काव्यों से भी कुछ सहायता ली गई है। संस्कृत से भाव लेना बुरा नहीं हैं। परन्तु कहीं-कहीं पर केशव ने उनको बिना ग्रन्थ के

---

1. *संक्षिप्त रामचन्द्रिका*—प्रस्तावना, पृष्ठ 6
2. *वही*, पृष्ठ 8

उपयुक्त बनाए ही ले लिया है जिससे वे सौन्दर्य वृद्धि करने के बदले उसमें बाधा उपस्थित करते हैं।"[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि एक ओर *रामचन्द्रिका* में यदि लालाजी ने केशव के प्रतिनिधि छन्दों का संकलन कर उनकी अलंकृत काव्य-चेतना की छाप पाठकों पर छोड़नी चाही है तो बड़थ्वाल जी ने तथ्याश्रित आलोचना लिखकर केशव-काव्य की दुर्बलताओं को रेखांकित करने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। वह यह नहीं मानते कि केशव के काव्य के मूल्यांकन के लिए काव्यत्व नहीं, शास्त्रीयता को वरीयता दी जानी चाहिए। केशव की सूझ-बूझ अलंकार और वस्तु व्यंजना की दिल खोलकर प्रशंसा करना ही उन्हें इष्ट न था। वह बाबू श्यामसुन्दर दास की तरह अलंकारों के फेर में पड़े केशव की जटिल और निरर्थक रचना को निस्सार मानते थे।

हस्तलिखित ग्रन्थों के खोज विवरण का सम्पादन

नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज कराई। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. हीरालाल ने सत्रह वर्षों तक इस खोज कार्य का निरीक्षण तत्परता और विद्वत्ता के साथ किया। इस कार्य में दूसरे सहयोगी व्यक्ति थे श्री दौलतराम जुयाल। डॉ. हीरालाल जी के निधन के बाद 6 अगस्त, 1934 को निरीक्षण का कार्य डॉ. बड़थ्वाल जी को सौंपा गया। खोज में उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों का 'चौदहवाँ त्रैवार्षिक विवरण' (सन् 1929-1931), 'पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण' (सन् 1932-1934) तथा 'सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण' (सन् 1935-1937) डॉ. बड़थ्वाल जी के निर्देशन में तैयार हुआ। मूल विवरण अंग्रेज़ी में थे। श्री दौलतराम जुयाल ने इनका अंग्रेज़ी से हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया और सन् 1954 तथा 1955 में इनका प्रकाशन आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, निरीक्षण खोज विभाग की देखरेख में हुआ।

15 मई, 1939 को लैंसडाउन, पाली से भेजी गई प्रस्तावना में डॉ. बड़थ्वाल जी ने लिखा—"इस रिपोर्ट को आरम्भ करने के पहले मुझे खोज विभाग के भूतपूर्व यशस्वी निरीक्षक डॉ. हीरालाल के स्वर्गवास का उल्लेख बड़े खेद के साथ करना पड़ता है। डॉक्टर साहब की मृत्यु से सभा के खोज विभाग की बड़ी क्षति हुई। वे बड़े उदार, सज्जन और कृपालु थे। क्या छोटे, क्या बड़े सब उनका सम्मान करते

1. *संक्षिप्त रामचन्द्रिका*—प्रस्तावना, पृष्ठ 36

थे। उनकी सेवाओं का आदर सरकार और जनता दोनों करती थी। कई संस्थाओं को उनका सहयोग प्राप्त था और वे लगन से साहित्य की श्रीवृद्धि किया करते थे। वे एक अवकाश प्राप्त ज़िलाधीश थे। यदि चाहते तो अपने जीवन का शेष काल सुखपूर्वक बिता सकते थे, किन्तु वे अन्त तक कर्मण्य रहे।'' इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि डॉ. बड़थ्वाल के हृदय में डॉ. हीरालाल जी के प्रति बड़ा सम्मान था। वह स्वयं इस क्षेत्र में समर्पण की भावना लेकर आए थे। शोध-निरीक्षण का कार्य उन्होंने इसी समर्पित भावना से किया।

'चौहदवाँ त्रैवार्षिक विवरण' में सन् 1929, 1930 तथा 1931 की कालावधि में खोजे गए 499 ग्रन्थकारों के बनाए हुए 884 ग्रन्थों की 1203 प्रतियों के विवरण लिए गए हैं जिनके अतिरिक्त 267 ग्रन्थों के रचयिता अज्ञात हैं। 274 ग्रन्थकारों के रचे हुए 408 ग्रन्थ खोज में बिल्कुल नवीन हैं। इनमें 63 ऐसे नवीन ग्रन्थ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे किन्तु उनके इन ग्रन्थों का पता नहीं था। डॉ. बड़थ्वाल ने अन्वेषित ग्रन्थों का विषयानुसार विभाजन भी कर दिया है—1. साधारण काव्य और संग्रह, 2. प्रेम और शृंगार, 3. संगीत शास्त्र और गीतिकाव्य, 4. कथा कहानी, 5. नाटक, 6. रीति और पिंगल, 7. भक्ति और स्तोत्र, 8. पौराणिक, 9. धार्मिक और साम्प्रदायिक, 10. नीति, 11. उपदेश, 12. ज्योतिष और रमल, 13. जन्त्र मन्त्र और स्वरोदय, 14. वैद्यक, 15. कोक तथा 16. विविध। इनमें जहाँ बंगला तथा गुजराती के पाँच ग्रन्थों का नोटिस लिया गया है, वहाँ चौदह मुसलमान ग्रन्थकारों की रचनाओं का विवरण दिया गया है, जिनमें मीरमाधो का *सुदामाचरित,* नज़ीर का *कन्हैया जन्म* और वंशी तथा आलम कृत *माधवानल कामकन्दला* प्रसिद्ध हैं। अठारहवीं शताब्दी की *पद्मावत* की प्रति भी उल्लेखनीय है।

जैन ग्रन्थकारों में भूधरदास कृत *भूधर विलास, चर्चा समाधान* तथा *पार्श्वपुराण,* बुधजन दास का *देवानुरागशतक,* गोकुल कृत *सुकुमाल चरित्र* तथा मुनीन्द्र कृत *रविव्रत कथा* सर्वथा नवीन रचनाएँ हैं। नवीन ग्रन्थकारों में जवाहरदास कृत *महापद,* रतिभान कृत *जैमिनी पुराण,* रामप्रसाद निरंजनी कृत *योग वशिष्ठ,* रूपराम सनाढ्य कृत *कवित्त संग्रह* तथा हरि राम कृत *मृगया विहार* उल्लेखनीय हैं।

डॉ. बड़थ्वाल ने कृति तथा कृतिकारों का विवरण देते हुए आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की हैं, इन टिप्पणियों का इतिहास-लेखन की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। उदाहरण के लिए, रामप्रसाद निरंजनी विषयक उनकी एक टिप्पणी लीजिए—''अब तक गद्य के जो चार आचार्य सर्वप्रथम गद्य लेखक माने गए हैं उनमें सबसे पुराने दिल्ली निवासी मुंशी सदासुखलाल नियाज़ हैं। उनका जन्म सम्वत् 1803 वि.

माना गया है। प्रस्तुत शोध में मिला यह ग्रन्थ उक्त मुंशी जी के जन्मकाल से पाँच वर्ष पूर्व की रचना है। इससे यह ज्ञात होता है कि गद्य का जो प्रारम्भ काल अब तक कल्पित किया जाता है उससे बहुत पूर्व ही हिन्दी गद्य विकसित होकर अपना परिमार्जित रूप ग्रहण कर चुका था।''

इंशा अल्ला के गद्य की भाँति उसमें फ़ारसीपन नहीं है। 'समझाय के कहौ, जानने हारे हो, तैसे ही', वह जो करता है सो बन्धन का कारण नहीं होता, आदि पुराने प्रयोगों से उनकी भाषा मुंशी सदासुख जी की भाषा से समता रखती है। उन्हीं की भाँति शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का इन्होंने भी स्थल-स्थल पर प्रयोग किया है। इनकी रचना में 'बाद' आदि कुछ ही विदेशी शब्द मिलते हें जो घुलमिल कर हिन्दी की निजी सम्पत्ति हो गए हैं। इस गद्य का महत्त्व यह है कि यह मुंशी सदासुखलाल के गद्य से कम से कम आधी शताब्दी पहले का तो अवश्य है। मुंशी जी के *भागवत* के अनुवाद का तो समय नहीं ज्ञात है किन्तु उनके बताए 'मुंत्तरवबुत्तवारीख' का रचनाकाल सम्वत् 1875 विदित है और रामप्रसाद निरंजनी का *योग वशिष्ठ* भाषा इससे सत्तर वर्ष पहले का है। इंशा अल्ला की *रानी केतकी की कहानी* और लल्लू जी लाल के *प्रेमसागर* से वह लगभग बासठ वर्ष पहले का है।'[1]

इसी प्रकार कबीर पर लिखी गई उनकी यह टिप्पणी भी उनकी प्रखर खोज दृष्टि का परिचय देती है—''इसका जितना अंश विवरण-पत्र में आया है, उससे पता चलता है कि वह *कबीर ग्रन्थावली* की पदावली और साखी से मेल खाता है। *कबीर ग्रन्थावली* के प्रधान आधार 'क' प्रति की सत्यता पर सन्देह करने के लिए स्थान है। उसकी पुष्पिका में लिपिकाल सम्वत् 1561 दिया गया है परन्तु पुष्पिका की लिपि शेष ग्रन्थ की लिपि से भिन्न जान पड़ती है। डॉक्टर जूल्स-ब्लाख ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। (बुलेटिन ऑव दी स्कूल ऑव ओरियन्टल स्टडीज, लंडन इंस्टीट्यूट भाग 5-6, पृष्ठ 749)। मैंने स्वयं इस हस्तलेख की जाँच की, जिसका परिणाम मैंने अपने अंग्रेज़ी ग्रन्थ *निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोयट्री* के पृष्ठ 276-277 पर दिया है। यद्यपि मुझे उसका सम्वत् 1561 का लिखा होना असम्भव नहीं मालूम होता, फिर भी मेरी जाँच से भी जो तथ्य प्रकाश में आए हैं वे कम संदेहोत्पादक नहीं हैं क्योंकि पुष्पिका, जिसमें सम्वत् दिया गया हे , गोड़ी हुई है। मैंने इस 'क' हस्तलेख को जाँच के लिए प्रयाग के डाकूमेन्ट एक्सपर्ट श्री चार्ल्स ई. हार्डलेस के पास भेजा था। उनके अनुसार भी पुष्पिका और शेष ग्रन्थ अलग-

---

1. *संक्षिप्त रामचन्द्रिका*—प्रस्तावना, पृष्ठ 36

अलग व्यक्तियों के लिखे हुए हैं। प्रस्तुत हस्तलेख *कबीर ग्रन्थावली* के ढंग का कबीर ग्रन्थावली के अतिरिक्त सबसे पुराना हस्तलेख है और उसका बहुत कुछ समर्थन करता है।'[1]

रीतिकाल के आचार्य देव संस्कृत के पण्डित थे, इस बात का पता उनके *शृंगार विलासिनी* ग्रन्थ से चलता है जो संस्कृत में लिखा गया है। मिश्रबन्धु विनोद में इस कृति का उल्लेख नहीं है। और तो और प्रो. हरिकृष्ण अवस्थी तथा डॉ. लक्ष्मीधर बाजपेयी ने भी देव के सोलह प्रामाणिक ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया। डॉ. बड़थ्वाल जी ने इस ग्रन्थ पर टिप्पणी दी—''ना.प्र. सभा में नायिका भेद सम्बन्धी देवकृत एक संस्कृत ग्रन्थ रखा बताया जाता है। उसका रचनाकाल सम्वत् 1751 (सन् 1694) कहा गया है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् 1757 (सन् 1700) है। इसकी विशेषता यह है कि संस्कृत में होने पर भी यह ग्रन्थ छप्पय, सवैया और दोहा आदि छन्दों में लिखा गया है जो हिन्दी के ख़ास अपने छन्द है। हिन्दी पिंगल के नियमों के अनुसार उनमें तुक भी मिलाई गई है। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस ग्रन्थ का विवरण रिपोर्ट में सम्मिलित किया गया है। खेद है कि यह ग्रन्थ खण्डित अवस्था में मिला है और लिखा भी अस्पष्ट अक्षरों में है।''[2]

पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरण में सन् 1932, 1933, 1934 की कालावधि में प्राप्त 476 ग्रन्थकारों द्वारा रचित 1016 ग्रन्थों की 1394 प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त 511 ग्रन्थों के रचयिता अज्ञात हैं। 231 ग्रन्थकारों के रचे हुए 401 ग्रन्थ खोज में बिल्कुल नवीन हैं। इनमें 176 ऐसे नवीन ग्रन्थ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे किन्तु उनके इन ग्रन्थों का पता नहीं था। डॉ. बड़थ्वाल ने इन ग्रन्थों का विषयानुसार वर्गीकरण कर दिया है—

1. धार्मिक, 2. साम्प्रदायिक, 3. प्रार्थना, 4. भक्ति, 5. दर्शन, 6. पौराणिक काव्य, 7. सन्त काव्य, 8. प्रबन्ध काव्य, 9. संग्रह, 10. जीवन चरित्र, 11. शृंगारी काव्य 12. अलंकार, 13. पिंगल, 14. पहेली, 15. कोष, 16. कहावत, 17. तर्क, 18. पत्र प्रबन्ध, 19. ग्राम्य काव्य, 20. टीका, 21. नाटक, 22. व्याकरण, 23. भूगोल, 24. इतिहास, 25. मृगया, 26. संगीत, 27. मनोरंजन, 28. गणित, 29. ज्योतिष, 30. वैद्यक, 31. रसायन, 32. काम शास्त्र, 33. मन्त्र-तन्त्र,

---

1. चौदहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृष्ठ 10
2. वही, पृष्ठ 13

34. वनस्पति शास्त्र, 35. पाक शास्त्र, 36. पशु चिकित्सा, 37. सामुद्रिक-शकुन, 38. उपदेश और 39. विविध।

कहना न होगा कि यहाँ डॉ. बड़थ्वाल ने साहित्य ही नहीं, ज्ञान विज्ञान की ओर भी ध्यान देकर हिन्दी वाङ्मय की विशेषता और समृद्धि को लक्षित कराने का प्रयत्न किया है। नवीन लेखकों में जनराज वैश्य के *कवितारस विनोद,* जनखुस्याल के *विपिन विनोद,* मानिक कवि कृत *बैताल पचीसी* तथा सेवादास के *अलंकार, नखशिख* तथा *रसदर्शन* की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। इनमें रीतिकाल के सर्वांग निरूपक आचार्यों में जनराज के ग्रन्थ का समावेश प्रायः सभी इतिहासकारों ने किया है। बोधा कवि पर उठे विवाद पर डॉ. बड़थ्वाल ने टिप्पणी दी है—बोधा नाम के दो कवि हुए—"एक 18वीं शताब्दी के मध्य में और दूसरा 16वीं शताब्दी के अन्तिम तथा 17वीं शताब्दी के प्रथम भाग में। प्रस्तुत शोध बोधा के निवास स्थान के विषय पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डालती। यद्यपि ये ग्रन्थ फ़ीरोजाबादी बोधा के नाम से ही प्रकट हैं, किन्तु इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं है। कविता की दृष्टि से जो सौंदर्य और उत्कृष्टता *विरह वारीश* और *इश्कनामा* में है वह *पक्षी मंजरी* और *बारहमासी* आदि इस खोज में मिले ग्रन्थों में नहीं है फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उक्त दोनों ही श्रृंगार के अच्छे कवि हैं। यदि बोधा दो न होकर एक ही हुए तो मानना पड़ेगा कि अब तक उनका जो समय प्रसिद्ध था, वह ग़लत है।"[1] डॉ. बड़थ्वाल ने यह भी कहा है कि "षेतसिंह नरनाह को, हुकुम चित्त हित पाइ, ग्रन्थ इश्कनामा कियो, बोधासुकवि बनाइ,' यदि इन षेतसिंह का विशेष विवरण मिल जाए तो बोधा का सच्चा इतिहास भी ज्ञात हो जाए।" डॉ. बड्थ्वाल तथ्यों के अभाव में एक निर्णय न दे सके। वस्तुतः खेतसिंह पन्नानरेश छत्रसाल के प्रपौत्र थे और उनके बड़े भाई का नाम अमान सिंह था। डॉ. बड़थ्वाल ने दोनों बोधा नामक कवियों में काव्यप्रवृत्ति और पद्धति का अन्तर पाया है। पर प्रमाणों के अभाव में वह किसी एक निश्चय पर नहीं पहुँच सके। *विरह वारीश* (माधवानल कामकन्दला चरित) तथा *इश्कनामा* (विरही सुभान दम्पति बिलास) स्वच्छन्द काव्य प्रवृत्तियों से परिपूर्ण रचनाएँ हैं, मनोवेगों तथा प्रेमोन्माद का ऐसा सहज चित्रण पक्षी मंजरी जैसी रचनाओं में नहीं है। डॉ. बड़थ्वाल ने इसीलिए दोनों कवियों को भिन्न माना। बाद में रीतिकाव्य के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसकी पुष्टि करते हुए सप्रमाण सिद्ध किया कि रीतिबद्ध रचनाकारों की सी शास्त्रबद्ध प्रवृत्ति पन्नावाले

---

1. पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृष्ठ 10

बुन्देलखण्डी बोधा में नहीं है, इससे इन्हें फ़ीरोजाबादी बोधा से पृथक् करने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती। दोनों की शैली एक-सी कहीं नहीं है। जैसा अनुमान लगाया गया है। इस प्रकार यह निश्चित है कि एक बोधा रीतिबद्ध रचना करने वाले थे और वे फ़ीरोजाबाद (आगरा) के थे, ये पन्ना के थे और खेतसिंह के आश्रित थे।[1] *पक्षी मंजरी* आदि के रचयिता फ़ीरोजाबादी बोधा हैं।

सोलहवें त्रैवार्षिक विवरण में सन् 1935, 1936, तथा 1937 तक की कालावधि में खोजे गए 281 ग्रन्थकारों के बनाए हुए 516 ग्रन्थों की 692 प्रतियों की सूचनाएँ ली गई हैं। इसके अतिरिक्त 371 ग्रन्थों के रचयिता अज्ञात हैं। 107 ग्रन्थकारों के रचे हुए 211 ग्रन्थ खोज में बिल्कुल नवीन हैं। इनमें 90 ऐसे नवीन ग्रन्थ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे किन्तु उनके इन ग्रन्थों का पता न था। डॉ. बड़थ्वाल ने इन ग्रन्थों की विषय-वस्तु का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

1. धार्मिक, 2. भक्ति तथा स्तोत्र, 3. कथा कहानी, 4. शृंगारिक, 5. संगीत, 6. दर्शन, 7. ज्योतिष, 8. पुराण, 9. काव्य, 10. उपदेश, 11. वैद्यक, 12. लीला बिहार, 13. रमल और शकुन, 14. 15. राजनीति, 16. अलंकार, 17. पिंगल, 18. कोश, 19. स्वरोदय, 20. जीवनी, 21. कोक शास्त्र, 22. कौतुक, 23. नाटक, 24. गणित, 25. रत्न परीक्षा, 26. बागवानी, 27. सामुद्रिक, 28. शालिहोत्र, 29. रसायन शास्त्र, 30. वंशावली, 31. लोकोक्ति तथा 32. विविध।

पूर्व अन्वेषित पुस्तकों की अपेक्षा इनमें विषय का विस्तार अधिक है। राजनीति, जीवनी, बागबानी, पशु चिकित्सा, रत्न परीक्षा, रमल तथा सामुद्रिक शास्त्र अधिक उपयोगी विषय हैं जिन पर हिन्दी में सामग्री उपलब्ध हो सकी। नवीन लेखकों में चाँद सुत आलम, गंगा राम पुरोहित गंग, जीमन महाराज की माँ, नवीन कवि और लाल जी रंगराजन की रचनाएँ प्रस्तुत कर नवीन जानकारी दी गई है। चाँद सुत आलम की रचना *संजीवन* है। यह वैद्यक का ग्रन्थ है तथा गद्य और पद्य में लिखा गया है। गंगा राम पुरोहित गंग की रचना का नाम *हरिभक्ति प्रकाश* है। यह ग्रन्थ एक प्रकार से भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक विचारावली का विश्वकोश है।[2] इसकी दूसरी विशेषता षट्दर्शन और बौद्ध, जैन तथा नास्तिक आदि मतों की एकता का प्रतिपादन करना भी है। नवीन कवि कृत *सुधासागर* या *सुधारस* बड़ा काव्य ग्रन्थ है जिसमें 257 कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं। दोहा, छप्पय, कुण्डलिया, बरवै

---

1. *हिन्दी साहित्य का अतीत,* भाग 2, पृष्ठ 680
2. सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृष्ठ 4

तथा चौपाई के अतिरिक्त 2295 सवैये तथा कवित्त संकलित हैं। लाल जी रंगखान जयपुर नरेश सवाई महेन्द्र प्रतापसिंह के आश्रित थे।

डॉ. बड़थ्वाल इतिहास की आधारभूत सामग्री पर भी ध्यान देते रहे हैं। खोज विवरण तैयार करते हुए उनका ध्यान बराबर इस ओर रहा है। राघवानन्द स्वामी पर दी गई इनकी टिप्पणी देखिए—"इनके नाम से 'सिद्धान्त पंचमात्रा' नामक एक छोटी सी रचना के विवरण लिए गए हैं। यहाँ राघवानन्द स्वामी का तात्पर्य अन्य किसी और व्यक्ति से न होकर सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द जी के गुरु से है। परन्तु जैसा कि रचना में कबीर का उल्लेख होने से पता चलता है, ये शायद ही इस पुस्तक के रचयिता हों। पुस्तक में योग और वैष्णव वाक्यावलियों का संयोग है जो इस बात का द्योतक है कि किस तरह पुनः प्रादुर्भूत वैष्णव प्रचार उत्तर भारत में योगियों की विचारधारा द्वारा पराभूत हुआ है और किस प्रकार योगमत ने निर्गुण सन्तमत को जन्म दिया। इसमें निर्गुण सन्त साहित्य का प्रारम्भिक रूप मिलता है।"[1]

स्पष्ट है कि सन्त साहित्य में योग और भक्ति का जो समन्वय दिखाई पड़ता है, उसकी परम्परा योग-भक्ति समुच्चयवादी उस भागवतधारा में है जिसके संकेत 'सिद्धान्त पंचमात्रा' में मिलते हैं तथा जिसका उपदेश स्वामी रामानन्द जी ने किया। डॉ. बड़थ्वाल की यह टिप्पणी सन्तमत का आधार ढूँढ़ने वालों के लिए मार्गदर्शक हो सकती है। इसी प्रकार परशुराम कवि पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने मौलिक बात कही है कि यद्यपि वह निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं, पर निर्गुण तथा सगुणवादी, दोनों विचार परम्पराओं से प्रभावित हुए जान पड़ते हैं। इन्होंने कबीर की तरह निर्गुण ब्रह्म पर भी कविताएँ की हैं और कृष्णभक्तों की तरह सगुणोपासना पर भी कही हैं। कबीर की तरह इन्होंने भी हिन्दू-मुसलमानों के ऐक्य विषयक कविताएँ की हैं। जिससे पता चलता है कि अन्य कृष्णभक्त कवियों की तरह ये देश सुधार के सम्बन्ध में सर्वथा मौन नहीं रहे।[2] इस टिप्पणी से समझा जा सकता हे कि डॉ. बड़थ्वाल साहित्य को समाज तथा जीवन हित से जोड़ कर देखते हैं।

तुलसी साहब हाथरसवाले के काव्य पर टिप्पणी देते हुए पहले वह महन्त-परम्परा का उल्लेख करते हैं और फिर उनकी कृतियों की अन्तरंग परीक्षा करते हैं। एक ही विषय के दो सन्त कवियों की तुलना में भी उनकी रुचि दिखाई पड़ती है, तभी वह लिखते हैं कि इनकी शिक्षा में उसी प्रकार आध्यात्मिक रहस्यवाद पाया

---

1. सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृष्ठ 44
2. सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृष्ठ 11-12

जाता है जैसे कबीर और दादू की शिक्षा में। काव्य यद्यपि इनका अपरिष्कृत है पर चमत्कार और व्यंग्य में वह कबीर के काव्य का अनुगमन करता है। तुलसी साहब को वह आपापन्थ का प्रवर्तक मानते हैं।

डॉ. बड़थ्वाल उदार लेखक-सम्पादक थे। उन्होंने कभी शोध निरीक्षकों के कार्य का निजी हित में शोषण नहीं किया। साधु कवि रतिभान के सम्बन्ध में जब कालपी के रसिकेन्द्र जी से उन्हें नई जानकारी मिली तब अपनी प्रस्तावना में इसका उन्होंने सहर्ष उल्लेख किया। इन खोज विवरणों के परिशिष्ट शोधार्थियों के लिए काम की चीज़ हैं।

3

शोध-ग्रन्थ तथा अन्य निबन्ध

डॉ. बड़थ्वाल हिन्दी शोध की नींव हैं। सन् 1933 में उन्हें द *निर्गुण स्कूल ऑफ़ हिन्दी पोयट्री* शोध प्रबन्ध पर डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त हुई थी। उसका हिन्दी अनुवाद सन् 1950 में लखनऊ, अवध पब्लिशिंग हाउस से 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नाम से प्रकाशित हुआ। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी तथा डॉ. भगीरथ मिश्र ने समवेत रूप से यह कार्य सम्पन्न किया। शोध प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए उनके निर्देशक डॉ. श्यामसुन्दर दास ने लिखा था—"प्रस्तुत रचना हिन्दी अध्ययन के क्षेत्र में एक भारी आवश्यकता की पूर्ति करती है। इसका विषय हिन्दी के उन रहस्यवादी कवियों में एक निर्दिष्ट शाखा है, जिन्हें साधारण प्रकार से हम निर्गुण कवि कहा करते हैं। अभी तक इन कवियों का अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो पाया था। अभी तक साधारणत: यही विश्वास किया जाता रहा है कि कोई अपना दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है और भिन्न आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली इनकी धारणाएँ अस्पष्ट एवं क्रमरहित हैं। डॉ. बड़थ्वाल ने इस शाखा के साहित्य का विस्तृत रूप से गम्भीर अनुशीलन किया है और अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों से भी सहायता ली है। यह उनके लिए बड़े गौरव की बात है कि सन्त कवियों के उपदेशों में उन्होंने दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं का एक निश्चित क्रम ढूँढ़ निकाला है। उन्होंने एक ऐसे तत्त्वज्ञान की सुन्दर व्याख्या की है जो बहुत उच्च एवं सूक्ष्म होता हुआ भी स्वभावत: व्यावहारिक है। उन्होंने हिन्दी काव्य के इस क्षेत्र पर अत्यधिक प्रकाश डाला है और हमारे तद्विषयक ज्ञान में भी वृद्धि की है।"[1] इसलिए

---

1. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय*—प्राक्कथन

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने भी कहा है— "हिन्दी शोध की आधारशिला रखने वालों में आपका नाम प्रमुख है।"[1]

सन्त साहित्य के दूसरे बड़े अनुसन्धायक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मन्तव्य है कि डॉ. बड़थ्वाल ने इस क्षेत्र में काम करने वालों के लिए एक साहसी पथ प्रदर्शक का काम किया है। सन्त साहित्य के गम्भीर अध्ययन का कार्य कदाचित् उन्होंने सबसे पहले आरम्भ किया था और अपनी लगन एवं अध्यवसाय के बल पर उसे बहुत दूर तक सफल करके भी दिखला दिया था। सन्त साहित्य की अभी कल तक उपेक्षित समझी जाने वाली रचनाओं को उन्होंने उचित महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा की है, सन्तों की दार्शनिक विचारधारा की गम्भीरता की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया है और उनकी साम्प्रदायिक साधना के गूढ़ रहस्यों तक को सबके लिए सुलभ कर देने के प्रयत्न किए हैं। निर्गुण एवं सगुण उपासना की पद्धतियों के बीच कल्पित की जाने वाली चौड़ी खाई को बहुत अंशों में कम कर दिखाने का भी काम किया है। स्वामी रामानन्द के विषय में की गई उनकी खोज तथा सन्तों की साम्प्रदायिक साधना को, पूर्व परम्परागत योगधारा के साथ जोड़ देने का प्रयास भी उनकी दो अन्य देनें हैं। जिनके लिए हम उनके चिरकृतज्ञ रहेंगे।[2]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध छह अध्यायों में विभाजित है तथा परिशिष्ट में पारिभाषिक शब्दावली निर्गुण सम्प्रदाय सम्बन्धी पुस्तकों की सूची तथा विशेष बातें शीर्षक से गोरख की हिन्दू-मुस्लिम एकता, रामानन्द कृत *आनन्दभाष्य* की संदिग्धता, बाबू सम्पूर्णानन्द की सुरति विषयक धारणा का विरोध, अजपाजाप, सहस्रार, आँखों का उलटना या प्रत्यावर्तन की क्रिया, उलटबाँसियाँ तथा गोरख, वीरभान, गरीबदास, रामचरन, पानपदास और मीराबाई पर कुछ मौलिक बातें लिखी गईं हैं।

सन्तों में जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, रामानन्द, कबीर, नानक, दादू, प्राणनाथ, बाबालाल, मलूकदास, दीन दरवेश, यारी साहब, तुलसी साहब तथा शिवदयाल की जीवनी और साधनाओं का परिचय दिया गया है। शोधप्रबन्ध का तीसरा अध्याय सर्वथा मौलिक और प्रौढ़ है क्योंकि इसमें निर्गुण सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त स्थिर किए गए हैं। चौथे अध्याय में निर्गुण पन्थों के गठन की भूमिका, रहनी और अनुभूति, सम्प्रदायवाद तथा षष्ठ अध्याय में निर्गुणबानियों के काव्यत्व पर विचार किया गया है। आचार्य शुक्ल जैसे दिग्गज जब निर्गुण काव्यधारा को शुद्ध कविता

---

1. *हिन्दी साहित्य कोश,* भाग-2, पृष्ठ 317
2. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय,* पृष्ठ 46

के देश से ख़ारिज कर चुके हों तब डॉ. बड़थ्वाल का यह कार्य प्रस्थान भेद के गहन श्रम और पाण्डित्य की सूचना देता है। आज हिन्दी में निर्गुणधारा की शाखा-उपशाखाओं पर पचासों शोधप्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। इन सबके पीछे डॉ. बड़थ्वाल की उपपत्तियों की भूमिका विद्यमान है। इतना ही नहीं, शुक्ल जी सन्तमत और भक्ति आन्दोलन को मुस्लिम आक्रमणों से पराभूत हिन्दू जाति की निराशा की देन मानते थे पर बड़थ्वाल जी ने उसे हिन्दू-मुस्लिम सामासिक संस्कृति, समय की आवश्यकता तथा इस्लामी सम्पर्क की देन मानते हुए भी उसका उत्स उपनिषदों तक ले जाकर उसे अखण्डधारा के रूप में प्रतिपादित किया। शुक्ल जी ने अपनी बात अनुमानों के आधार पर कही थी और बड़थ्वाल जी ने इतिहास तथा सामाजिक प्रक्रिया के परिणामों के आधार पर अकाट्य रूप में कही। उन्होंने उत्तर-दक्षिण भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों का इतिहास-ग्रन्थों के सन्दर्भों से जायज़ा लिया तथा भगवच्छरणागति, शूद्रोद्धार, गोरख तथा रामानन्द का मानवमात्र की एकता और जातिभेद का विरोध जैसे तत्त्वों का उल्लेख कर भक्ति आन्दोलन की मूल भारतीय चेतना प्रतिपादित की। नारायणीय भागवत धर्म और आलवार भक्तों के अवदान को भी उन्होंने रेखांकित किया तथा निष्कर्ष निकाला—"इससे हिन्दुओं को प्रतिरोध की एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति प्राप्त हुई, जिसने उन्हें भय की उपेक्षा, अत्याचारों का सहन और प्राणान्तक कष्टों को सहते हुए भी जीवन धारण करना सिखाया। इस प्रकार जो जाति नैराश्य के गर्त में पड़कर जीवन की आशा छोड़ चुकी थी, उसने वह सत्त्व संचय कर लिया जिसने क्षीण होने का नाम न लिया।"[1]

जैसा कि कहा जा चुका है, उन्होंने सन्तवाणियों के आधार पर उनकी दार्शनिक मान्यताओं का पता लगाया। उन्होंने सांख्य, योग, अद्वैत तथा द्वैत की सरणियों का विवेचन करके सन्तकाव्य का पूर्व परम्परा से सम्बन्ध स्थापित किया। अद्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत के खाँचे में उन्होंने सन्त कवियों का वर्गीकरण किया। द्वैताद्वैत को उन्होंने भेदाभेद नाम दिया है। कबीर उनकी दृष्टि में अद्वैतवादी हैं तो नानक भेदाभेदवादी तथा प्राणनाथ जी विशिष्टाद्वैतवादी हैं। प्राणनाथ जी के साम्प्रदायिक सिद्धान्त को लेकर आज विवाद हो सकता है पर बड़थ्वाल जी सन्त चिन्तन को त्रिधारात्मक ही मानते हैं। सत्गुरु, नामस्मरण, सुरत शब्द योग तथा प्रेम के पीर की चर्चा वह सन्तमत की साधना के अनिवार्य तत्त्व के रूप में करते हैं। सन्तकाव्य की मूल प्रेरणा 'अन्तःस्फुरण' है अतः प्रातिभ ज्ञान प्रधान होने के कारण

---

1. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय,* पृष्ठ 14

इस काव्य की कसौटी वही नहीं हो सकती जो लालित्य बोध या बाह्य प्रेरित कारणों से प्रेरित काव्य की हो सकती है। डॉ. बड़थ्वाल जी का कथन है कि ये कवि प्रधानत: कवि नहीं थे। काव्य का कलात्मक सृजन उनका निश्चित उद्देश्य न था। उनके लिए कविता एक उद्देश्य का साधन मात्र है। इन आत्म द्रष्टाओं के निकट हमें उनकी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के लिए नहीं किन्तु भावना के सौन्दर्य के लिए जाना उचित है।[1] इस स्थापना के पक्ष में रेशनल मिस्टीसिज़्म के लेखक विलियम किंग्सलैण्ड को उद्धृत कर वह सन्त वाणियों के काव्यत्व की परख का आधार अन्तरात्मा की प्रेरणा और जीवित सत्य के साक्षात्कार को मानते हैं। साखी और सबदी का अन्तर भी वह इसी आधार पर स्पष्ट करते हैं। साखी को वह व्यावहारिक अनुभव प्रधान कहते हैं तथा सबद को आध्यात्मिक अनुभव प्रधान मानते हैं। ध्वनियाँ, चमत्कारी व्यंग्यार्थ, प्रतीकात्मक भाषा एवं भाव चित्रों की अनेक रूप रमणीय योजना सन्त कवियों की विशेषता है। इस प्रतीकात्मक भाषा, रमणीय भाव चित्रांकन, दाम्पत्य की रहस्यात्मक व्यञ्जना तथा उलटबाँसी की शैली उन्हें वैदिक और औपनिषदिक साहित्य से मिली। सन्तों में अग्रणी कबीर को बड़थ्वाल जी इसी प्राक्तन परम्परा से जोड़ते हैं। भावुकता तथा रहस्यवादिता से कला बाह्याडम्बरों से निर्मुक्त होती है। प्रेम प्रधान रूपक तथा तन्त्र साधनागत शृंगारोन्माद इस कविता की आन्तरिक शक्ति है। हिन्दी आलोचना में सन्तकाव्य के मूल्यांकन के समय यह दृष्टि नहीं अपनाई गई। अभिप्राय मूलकता तथा सतत मिलन की उत्कण्ठा इन रचनाओं का विशेष मूल्य कही जा सकती है। यही कारण है कि इन सन्तों की बानियाँ यद्यपि आज भी पूर्णतया बोधगम्य नहीं पर कुछ लोगों की भाँति यह कहना कि वे किसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए नहीं लिखी गई थीं, नितान्त मिथ्या है।[2]

इस शोधग्रन्थ में डॉ. बड़थ्वाल की इतिहास सम्बन्धी कुछ विशेष स्थापनाएँ भी देखने को मिलती हैं। वह वर्तमान बीजक का संकलन बसना के बाद स्वीकार करते हैं। चूल्हे, चौके तथा दीक्षा के कबीरपन्थी मन्त्रों का सम्बन्ध पन्थ के संगठनात्मक उद्योग से मानते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रथम प्रयत्न उनकी दृष्टि में गोरख से हुआ। हाजी रतननाथ इसके उदाहरण हैं। और वह गोरख के शिष्य थे। नाथ पन्थ बौद्ध सिद्धों की भोगवादी वृत्ति की प्रतिक्रिया का परिणाम है। वह परम्परागत

1. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय,* पृष्ठ 341
2. *वही,* पृष्ठ 376

योगप्रवाह के पुनरुद्धार का फल है। हिन्दी निर्गुण काव्य धारा का उन्मेष दसवीं शती के आसपास हुआ क्योंकि यहीं उसे निरंजन धारा का साहचर्य मिला। हिन्दी में जिस नागार्जुन की सबदी मिली है तथा सिद्धनाथ धारा में जिसका महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह दसवीं सदी के लामा तारानाथ के गुरु थे। अत: सिद्ध काव्यधारा के कारण हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ इस समय से माना जा सकता है। निर्गुणधारा में इस्लामी तत्त्वों का प्रवेश कबीर के कारण हुआ। दाम्पत्य प्रेम प्रतीकों की योजना निर्गुणियों में सूफ़ियों की देन है पर उनका माधुर्य भाव सूफ़ियों की देन नहीं। इन पंक्तियों का लेखक तो कहना चाहता है कि जीवात्मा-परमात्मा के दाम्पत्य भाव के रूपक भी अथर्ववेद की कुछ श्रुतियों से प्रभावित हैं। 'क: ज्येष्ठ वराऽभवत्' जैसी श्रुतियाँ इस देश में बौद्ध वज्रयानी सिद्धों तथा सूफ़ियों के आगमन से पूर्व भी विद्यमान थीं, यद्यपि डॉ. बड़थ्वाल ने ये श्रुतियाँ उद्धृत नहीं कीं। प्रेमाभक्ति की प्रेरणा सन्तों को रामानन्द से मिली। माधुर्य और योगमिश्रित साधना प्रणाली के लिए निर्गुण काव्यधारा रामानन्द की ऋणी रहेगी। डॉ. बड़थ्वाल का यह भी मत है कि सन्तमत के उत्थान को भले ही बल इस्लामी शासन से उद्भूत परिस्थितियों के कारण मिला हो पर उसके उद्भव में उसका कोई हाथ नहीं है। वह तो सूफ़ीमत के दूसरे उत्थान को भी, जिसका विकास फारस में हुआ, अधिकांश में हिन्दुओं के प्रभाव का परिणाम मानते हैं। सूफ़ीमत, सर्वात्मवादी रहस्यवाद तथा वेदान्तपरक अद्वैतवाद कबीर के यहाँ पहले मिश्रित हुआ फिर उस चासनी ने समस्त निर्गुण काव्यधारा को पाग दिया। वैष्णव तथा शाक्तमत के प्रभाव को भी उन्होंने परिलक्षित किया पर बौद्ध तन्त्र पद्धति का गुरुतत्त्व के प्रसंग में उल्लेख कर वह उसके प्रभाव पर मौन लगा गए। इसका कारण है कि वह 'युगनद्ध' जैसी साधना को सन्तधारा में शाक्ताद्वैत का प्रभाव मानते हैं, बौद्धप्रभाव नहीं। अत: राहुलजी की स्थापनाओं का उन्होंने उपयोग नहीं किया। वह जार्ज ग्रियर्सन की स्थापना का खण्डन करते हुए डॉ. कीथ का समर्थन करते हैं और मानते हैं कि भक्ति साहित्य पर ईसाईयत का प्रभाव नहीं। यह भी निश्चित है कि वह सन्तकाव्य को नाथ सिद्धों की क्रमिक परम्परा का परिणाम मानते हैं, वज्रयानी परम्परा के सिद्धों से जोड़ना वह उचित नहीं मानते। राहुलजी का सारा उद्योग इस दूसरी धारा के महत्त्वांकन में रहा। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने डॉ. बड़थ्वाल की कुछ सूचनाओं को अपूर्ण तथा त्रुटिपूर्ण माना है पर ये सूचनाएँ सन्त कवियों के इतिवृत्त से सम्बन्धित हैं। सन् 1950 की लिखी प्रस्तावना में शोध सामग्री से नए तथ्य आ गए थे। सन् 1933 में इतिवृत्त विषयक सामग्री कम थी। पर यह आज भी महत्त्वपूर्ण

है कि साम्प्रदायिक विचारधारा सम्बन्धी उनकी स्थापनाएँ अकाट्य और पुष्ट हैं। आज तो महापण्डित राहुल, डॉ. मोहन सिंह, डॉ. कल्याणी मलिक, डॉ. सुकुमार सेन, मैक्लिफ़, हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. प्रबोध चन्द्र बागची, डॉ. शशिभूषण दासगुप्ता, डॉ. शहीदुल्ला तथा फ़र्कुहर के सूचनापूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं पर जब डॉ. बड़थ्वाल ने यह कार्य प्रारम्भ किया था तब डॉ. भण्डारकर, डॉ. रानाडे, विल्सन, फ़र्कुहर, वेसकाट, गिबन, स्टेनली लेनपोल, कार्पेन्टर, कनिंघम, नदवी तथा डॉ. ईश्वरीप्रसाद के ग्रन्थों के अतिरिक्त विशेष सामग्री कहाँ थी? हाँ राहुलजी का काम सामने था। सन्तों का पूरा वाणी साहित्य भी प्रकाशित न था।

तात्पर्य यह कि यह सारा कार्य डॉ. बड़थ्वाल ने अपने बलबूते किया। सन्त मत को भारतीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में *योग प्रवाह* के साथ जोड़ा। उनका निष्कर्ष उल्लेखनीय है कि वेद और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है, *गीता* में भगवान् के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है, वह भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्ममूलक होने में है जो भारतीयों की ब्रह्म जिज्ञासा का फल है। उपनिषदों और *गीता* का रहस्यवाद यही रहस्यवाद है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने *ऋग्वेद* की दो ऋचाएँ उद्धृत की हैं। उनका सूत्र है—नाथ सिद्ध और सन्तकवि उपनिषदों के घाट पर बहते योगप्रवाह में डुबकी लगाकर खड़े हुए हैं। गुरुतत्त्व, कुण्डलिनी तत्त्व, सुरति शब्दयोग, षट्चक्र, जीव-ब्रह्म सम्बन्ध तथा रहस्यात्मक माधुर्य भारत की चिन्तन धारा में इस्लाम तथा सूफ़ीमत के आगमन से पूर्व भी विद्यमान था। उसे बौद्ध, जैन, शाक्त, वैष्णव तथा शैव धारा के साथ अलग-अलग नहीं मिश्रित करके देखा जाना चाहिए।

बड़थ्वालजी ने उन सांकेतिक शब्दों की तालिका भी अपने शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत की, जिनका उपयोग इस धारा के सन्तों ने किया है। उनका कथन है कि एक ही सांकेतिक शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न भावों के लिए हुआ करता है। ऐसे स्थलों पर केवल प्रसंग से ही जान पड़ता है कि अमुक शब्द का प्रयोग वहाँ अमुक बात को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। गरीबदास कृत *भवन प्रबोध* ग्रन्थ में सर्वप्रथम ऐसे शब्दों पर विचार हुआ। कुछ उदाहरण लीजिए—

ॐ — शब्द, पवन, सास, जीव, सबद, सुर, सूर, उजास, ससासंख, सेसदम, नाद, स्यंघ, स्याल।

अन्तःकरण— कमल, घड़ा, गगन, आँगणा, ताखा, कुआँ।

आत्मा — बादशाह, हंस, अवधूत, अर्जुन, महर, गूजर, प्रजापति, सुलतान, राजा, साह, काजी, खग, सती, विरहिनी, वैरागिनी, बाँझ, सुन्दरी, दुलहिन, रूह, अरवाह, बेली, अंजनी।

इड़ा — योग नाड़ी जो नाक की बायीं ओर आकर समाप्त होती है। चन्द्रमा, इला, गंगा, वरणा।

उनमनि — तन्मनस्कता, वहमन, अतिचेतना।

कुआँ — अन्तःकरण, त्रिकुटी वा आकाश में स्थित अमृतकूप।

गुरु — सिकलीगर, साह, सुनार, चन्दन, चिन्तामणि, पारस, भृंगी, वैद्य, हंस, पारिष

कबीर ग्रन्थावली की भूमिका में बड़थ्वाल ने अपने शोध निष्कर्षों को व्यावहारिक रूप दिया है। या यों कहिए कि जिस समय भूमिका लिखी गई, शोध के अध्ययन-सूत्र बड़थ्वालजी ने तैयार कर लिए थे। यहाँ भी मुस्लिम हिन्दू एकता, माधुर्यपरक रहस्यवाद, ब्रह्मवाद और सर्वात्मवाद आदि का वैसा ही विचार है जैसा शोध प्रबन्ध में हुआ है। ज्ञानियों की ब्रह्म जिज्ञासा और वैष्णवों की प्रेमाभक्ति की विशेष बातों को लेकर निर्गुणवाद का महल खड़ा किया गया है। ब्रह्मवाद मुस्लिम एकेश्वरवाद के मुक़ाबले खड़ा किया गया है तथा इस पर कबीर आदि सन्तों ने बल इसलिए दिया कि तात्त्विक चिन्तन और व्यावहारिक धरातल पर मुसलमान हिन्दुओं के निकट आ सकें। इस विचारधारा ने आँधी की तरह मनुष्य और मनुष्य के बीच खड़ी दीवार को उड़ा दिया। परमात्मा के संसार में सबका बराबर दर्जा है। काबा, काशी या राम रहीम में कोई अन्तर देखना अनस्ति भेदभावों का परिणाम है। निर्गुणवाद किसी भी प्रकार के अतिवाद के विरुद्ध था। संसार में रहकर कर्म करते हुए मुक्ति पालने की कला इन्होंने आविष्कृत की थी। दादू ने कहा था—हमारा उच्च विचार तो इस प्रकार का है कि सांसारिक बातों को न ग्रहण करें और न परित्याग कर दें, हम लोग मध्यम मार्ग पकड़कर ही मुक्ति के द्वार तक पहुँचना चाहते हैं—

> ना हम छाड़ें ना ग्रहैं, ऐसा ज्ञान विचार।
> मद्धि भाव सेवैं सदा, दादू मुकति दुवार॥

डॉ. बड़थ्वाल ने निर्गुण पन्थ की सारवादिता तथा उपयोगिता को प्रमाणित करते हुए लिखा है—"यह विदित हो जाता है कि उसका तात्पर्य कोई संकीर्ण साम्प्रदायिक रूप कभी नहीं था। किसी सीमित समाज के सदस्य होने की जगह निर्गुणी अपना सम्बन्ध सभी के साथ मानते थे और उन्हें अपना समझते थे। दूसरों

का उनके दावों का खण्डन करना उनकी उक्त स्थिति में कोई अन्तर नहीं लाता। वे सारे विश्व में अपने को विलीन करने का दम भरते हैं और इस जगत् में आत्म विस्तार की भावना लेकर चलते हैं। जब एक निर्गुणी कहता है कि मैं न तो हिन्दू हूँ और न मुस्लिम ही हूँ तो उसका अभिप्राय यह रहता है कि उन दोनों में से एक न होने के कारण, वह एक प्रकार से दोनों है, क्योंकि वह दोनों के ही धर्म सम्बन्धी दुराग्रह से मुक्त है। कालान्तर में, जब भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ तो निर्गुण पन्थ ने दोनों के ही अनुयायियों का स्वागत किया। पन्ना के प्राणनाथ ने जो धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, मुसलमानों, हिन्दुओं व ईसाइयों की एकता की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। निर्गुणियों के मतानुसार मानव समाज को धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करना असत्य पर आश्रित है। इसका अपना धर्म सभी प्रकार की वर्ग भावना से रहित है, उसमें सच्चे धर्म के सभी मुख्य अंश निहित रहते हैं और धार्मिक दुराग्रह को किसी रूप में न अपनाने, किसी भी प्रकार के पार्थक्य की भावना को प्रश्रय न देने तथा जीवन के क्षुद्रातिक्षुद्र अंश को भी अछूता न छोड़ने वाली अपनी विशेषता के कारण, उसका प्रभाव सदा व्यापक और सार्वभौम हुआ करता है।"[1]

इस निष्कर्ष से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका अध्ययन साहित्यिक ही नहीं, सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सम्पन्न हुआ है। भावी भारतीय संविधान की मूल चेतना उसमें प्रतिबिम्बित थी। स्वतन्त्रता से पूर्व उनका यह चिन्तन क्रान्तदर्शी ऋषि का स्वप्न था, जो संविधान में प्रतिफलित हुआ। सन्तकाव्य कलात्मक दृष्टि से नहीं युगान्तकारी दृष्टि से मूल्यवान है और उसकी यही विशेषता उसे कालातीत बना देती है। डॉ. बड़थ्वाल ने इसे पहली बार परखा, समझा और रेखांकित किया।

डॉ. बड़थ्वाल के शोध का उपयोग हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, विनयमोहन शर्मा, रांगेय राघव तथा प्रभाकर माचवे जैसे सन्तकाव्य अनुसन्धायकों ने किया, यह उनके कार्य की प्रौढ़ता का परिचायक है। डॉ. रामविलास शर्मा ने *भारतीय संस्कृति* और *हिन्दी प्रदेश* ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में पूरा एक परिशिष्ट भक्ति और योग के सम्बन्ध में डॉ. बड़थ्वाल की मान्यताओं पर विचार करने के लिए दिया है।

डॉ. बड़थ्वाल की मान्यताओं को डॉ. शर्मा ने गहराई से समझा है। बड़थ्वाल

---

1. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय,* पृष्ठ 334

ने निर्गुण भक्ति को योग का परिवर्तित रूप मात्र माना है। दक्षिण के रामानुज, यामुनाचार्य, राघवानन्द तथा रामानन्द के कारण योग और भक्ति का पूर्ण सामंजस्य हो गया। निर्गुण और सगुण का जैसा भेद परवर्ती आलोचकों ने खड़ा किया, वैसा भेद रामानन्द और उनके शिष्यों के सामने नहीं था। निर्गुणधारा और योगधारा को हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टि से एक अखण्ड परम्परा के बीच खड़ा करने का श्रेय डॉ. शर्मा भी डॉ. बड़थ्वाल को देते हैं। डॉ. शम्भुनाथ सिंह और डॉ. रामविलास शर्मा दोनों मानते हैं कि जुगी या जोगी जाति सम्बन्धी जिन स्थापनाओं का उल्लेख हज़ारी प्रसाद द्विवेदीजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *कबीर* में किया है, उसका उल्लेख बड़थ्वाल 'कबीर के कुल के निर्णय' निबन्ध में बहुत पहले कर चुके थे। इसी तरह द्विवेदीजी से बहुत पूर्व बड़थ्वाल यह सिद्ध कर चुके थे कि निर्गुण धर्म साधना नाथ पन्थ की पूर्णरूपेण ऋणी है। हठयोग की पद्धति, योग-भक्ति समन्वय, निरंजनी चिन्तन तथा योगपरक रूपकों, उलटवाँसियों तथा प्रतीक शब्दों पर बड़थ्वालजी ने जो सामग्री दी, उसी का अनुकरण अन्य आलोचकों ने किया।

निबन्ध साहित्य

डॉ. बड़थ्वाल से पूर्व निबन्ध को लेख कहा जाता था। भारतेन्दु से द्विवेदी युग तक लेख और निबन्ध में कोई विशेष भेद नहीं समझा गया। श्यामसुन्दर दास तथा रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध के क्षेत्र विस्तार, विषय गाम्भीर्य, विचारों की शृंखलाबद्धता तथा शैली की कसावट को ध्यान में रखकर निबन्ध को व्यवस्थित रूप दिया। उसमें भावात्मकता का स्पर्श अनिवार्य समझा गया। इन दोनों विद्वानों ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद अंग्रेज़ी निबन्ध साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। बेकन, स्टील तथा गोल्डस्मिथ जैसे निबन्धकारों की रचनाओं ने हिन्दी के इन नए विद्वानों को परोक्ष रूप से प्रभावित किया। शुक्लजी ने इसलिए निबन्ध को व्यक्तिगत विशेषता से युक्त माना। विचारों की सुसम्बद्धता, प्रवाह तथा व्यक्तित्व की झलक के बिना निबन्ध नहीं लिखा जा सकता। शुक्लजी से प्रेरणा लेकर विचारात्मक, भावात्मक, समीक्षापरक तथा शोधेतिहास विषयक निबन्धों की रचना बड़थ्वालजी ने की। यद्यपि निबन्धकारों की श्रेणी में उनके निबन्धों का आकलन आलोचकों ने नहीं किया पर डॉ. भगीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित निबन्ध संकलन *मकरन्द* तथा डॉ. गोविन्द चातक द्वारा सम्पादित *डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध* संकलन इस दिशा में आलोचकों को विचारार्थ चुनौती दे रहे हैं।

शुक्लजी के साथ बड़थ्वालजी ने एक पाठ्यपुस्तक तैयार की थी—*गद्य-सौरभ*। इसका प्रकाशन नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस ने किया है। इसमें प्रायः गद्य की सभी प्रमुख विधाओं को प्रतिनिधित्व मिला है। निबन्धों में प्रतापनारायण मिश्र का 'धोखा', रामचन्द्र शुक्ल का 'भय', श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का 'गोसाईंजी की कविता' तथा बालकृष्ण भट्ट का 'चन्द्रोदय' निबन्ध संकलित हैं। भारतेन्दु से शुक्लजी तक बस यही निबन्धकार हैं। इस पुस्तक की भूमिका गद्य और गद्य विधाओं के विकास पर संक्षेप में जानकारी प्रदान करती है।

निबन्ध के बारे में लिखा गया है—"निबन्धों के लिए हम पत्रकार जगत् के जितने ऋणी हैं उतने शायद किसी के नहीं। निबन्धों में हमें दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक तो जिनमें लेखक अपने मस्तिष्क की लगाम ढीली करे बिना किसी प्रणाली का अनुसरण किए जिधर जी में आता है, दौड़ लगाता है और दूसरे जिसमें तार्किक ढंग से तथा सुबद्ध रीति से किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है। आधुनिक गद्य के आरम्भिक काल में पहले प्रकार के निबन्धों का बाहुल्य है। पण्डित प्रताप नारायण मिश्र का 'धोखा' और बालकृष्ण भट्ट का 'चन्द्रोदय' ऐसे ही निबन्ध हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और लहरदार हो सकती है। तथ्य निरूपण की शैली का विकसित रूप हिन्दी में पहले-पहल चरित्र सुधार की दृष्टि से रखकर लिखे गए निबन्धों में दिखाई दिया परन्तु ऐसे निबन्धों में भी स्थल-स्थल पर भावावेश के लिए स्थान रहता था। इस प्रकार के निबन्ध लेखकों में बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु और बाबू दयानन्द गोयलीय के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी के निबन्ध साहित्य की वृद्धि में योग दिया है। ऐतिहासिक खोज, वैज्ञानिक आविष्कार, औद्योगिक विकास—चाहे जिस विषय पर लिखे गए विशेषज्ञतापूर्ण निबन्ध उन्हें अंग्रेज़ी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में मिलते थे, उनको वे सुबोध रूप में अपने पाठकों के सामने रख देते थे। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा साहित्यिक विषयों पर गम्भीर समालोचनात्मक निबन्ध शुक्लजी ने लिखे। इतिहास और ऐतिहासिक निबन्ध लिखने वालों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, गंगाप्रसाद मेहता, जयचन्द्र विद्यालंकार तथा सम्पूर्णानन्दजी का उल्लेख किया जा सकता है।'[2]

---

1. *हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास,* भाग-13, पृष्ठ 454 —लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
2. *गद्य सौरभ,* पृष्ठ 15 से 18 तक

बड़थ्वालजी ने मनोविकार सम्बन्धी, व्यावहारिक आलोचनापरक, जीवनी-परक तथा शोध-इतिहासमूलक विचार प्रधान निबन्ध लिखे हैं। शुक्लजी से पूर्व यद्यपि मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध लेखन का सूत्रपात् बालकृष्ण भट्ट 'आत्मनिर्भरता', प्रतापनारायण मिश्र 'मनोयोग' तथा माधव प्रसाद मिश्र 'धृति और क्षमा' लिखकर कर चुके थे पर इन्हें प्रौढ़ता शुक्लजी की लेखनी में ढलकर मिली। शुक्लजी के भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा और भक्ति, लज्जा, भय, करुणा आदि निबन्धों ने अन्य निबन्धकारों को भी ऐसे निबन्ध लिखने के लिए प्रेरित किया पर वैसी सफलता उन्हें न मिली जैसी शुक्लजी को प्राप्त हुई। बड़थ्वालजी का ऐसा ही निबन्ध है 'सन्देह'। यह निबन्ध चातक जी के संकलन में संकलित है। इसका प्रारम्भ शुक्लजी के निबन्धों की तरह ही होता है, देखिए—

"सन्देह उस मनोवृत्ति का नाम है जिसमें आशंका मिश्रित अनिश्चितता होती है। यह दो प्रकार का होता है जिसमें आशंका अधिक होती है वह आशंका मूलक और जिसमें अनिश्चितता अधिक होती है वह अनिश्चयमूलक। मुझे रोग न हो गया हो यह आशंका भी सन्देह है और न जाने इस काम को करने में अन्त में भलाई होगी या बुराई, यह अनिश्चितता भी सन्देह ही है। अनिश्चय और आशंका किसी मात्रा तक दोनों में है परन्तु आशंका में आशंका का आधिक्य है तथा पहले में अनिश्चय का।"[1]

निबन्ध का प्रारम्भ परिभाषा और विषय की स्थापना से होता है तो मध्य विषय के विस्तार और विवेचन से। अन्त में समाहार तथा निष्कर्ष। मध्य का उदाहरण लें—

"हमसे ग़लती न हो जाए, केवल इस आशंका से नेता कहलाने के इच्छुक बड़े-बड़े लोग तक अनिश्चय के शिकार बन स्वर्ग का अवसर खो बैठते हैं। एक मनुष्य के अनिश्चय और उसकी आशंका के कारण महान से महान राष्ट्र दासता में बँध सकते हैं और बँधे हुए का बन्धन काल कई शतक और बढ़ सकता है। लार्ड रोज़बरी का कथन है कि नेपोलियन के अनिश्चय के कारण वाटरलू के युद्ध के अनन्तर फ्रांसिसी राष्ट्र उसका साथ न दे सका और उसकी अनन्त शक्तियाँ सेंट हेलेना की क़ैद में उसी के आत्मा का भक्षण करती रही। ग़लती करना मनुष्य का स्वभाव है, ग़लती करने से डरना मनुष्यता का विरोध करना है, बल्कि यह भी कह दें तो असंगत नहीं कि ग़लती करने से डरना कायरता का प्रधान कारण है और जब

---

1. *डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध*, पृष्ठ 148

युवकों में यह बात पाई जाती है तो भविष्याकाश पर नैराश्य की एक काली चादर तनी दीख पड़ती है।''[1]

निबन्ध का अन्त इस प्रकार होता है—''अनर्थों को रोकने के लिए परमात्मा ने सन्देह वृत्ति को रचा था किन्तु मनुष्य अपनी मूर्खता के कारण उसे ही अनर्थों का मूल बना बैठा है। मनुष्य ने इस वृत्ति का जैसा दुरुपयोग कर दिया है, उसे देखते हुए संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि यदि हमेशा सही काम करना मुक्त जीवन है तो ग़लती करना प्रगाढ़ सांसारिक जीवन, आशंका और अनिश्चय के वश सन्देह का शिकार बनना जीवित मृत्यु है।''[2]

डॉ. बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध संकलन का प्रकाशन सन् 1995 में तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ। सम्पादन डॉ. गोविन्द चातक ने किया है। इसमें पन्द्रह निबन्ध संकलित हैं—1. कबीर और कबीरपन्थ, 2. कबीर और गाँधी, 3. सन्त, 4. सुरति-निरति, 5. सन्तों का सहज ज्ञान, 6. हिन्दुत्व का उन्नायक, 7. हिन्दी काव्य में योग प्रवाह, 8. मीराबाई और वल्लभाचार्य, 9. उत्तराखण्ड में सन्तमत और सन्त साहित्य, 10. हिन्दी साहित्य में उपासना का स्वरूप, 11. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, 12. केशवदास और उनकी रामचन्द्रिका, 13. पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद, 14. हमारी कला और संस्कृति तथा 15. सन्देह।

इससे पूर्व डॉ. भगीरथ मिश्र ने अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ से *मकरन्द* नाम से डॉ. बड़थ्वाल के महत्त्वपूर्ण गवेषणात्मक लेखों का संग्रह प्रकाशित कराया था। इसमें तेईस निबन्ध संकलित हैं—1. बोली से साहित्यक भाषा, 2. नाथ पन्थ में योग, 3. सन्तों का सहज ज्ञान, 4. उत्तराखण्ड के मन्त्रों में गोरखनाथ, 5. गाँधी और कबीर, 6. आचार्य कवि केशवदास, 7. भूषण का असली नाम, 8. भूषण की श्रृंगारी कविता, 9. मूलगोसाईं चरित और रामनरेश त्रिपाठी, 10. एक नवीन रस के उद्भावक हरिश्चन्द्र, 11. निबन्धकार द्विवेदी, 12. स्व. पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, 13. डॉ. हीरालाल, 14. बाबू श्यामसुन्दर दास की हिन्दी सेवा, 15. गढ़वाली भाषा के परवाणा (कहावतें), 16. कीर्तिलता की भाषा, 17. ब्रजभाषा और रसकलश, 18. तारा पाण्डेय, 19. ज्ञ का हिन्दी उच्चारण, 20. चौरंगीनाथ, 21. हमारी कला और शिक्षा, 22. मेल्णों की जीवन कथा तथा 23. हिन्दी काव्य की निरंजन धारा।

---

1. *डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध*, पृष्ठ 149
2. *वही*, पृष्ठ 152

दोनों निबन्ध संकलनों में कुछ निबन्ध उभयनिष्ठ हैं। जैसे, 'कबीर और गाँधी' तथा 'सन्तों का सहज ज्ञान'। 'आचार्य केशवदास' तथा 'केशवदास और उनकी रामचन्द्रिका' में कुछ अन्तर के साथ एक जैसी बातें कही गई हैं। दोनों संकलनकारों ने प्रकाशित निबन्धों का मूल स्रोत नहीं दिया है। डॉ. सम्पूर्णानन्द के *योगप्रवाह* संकलन तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वीणा या अन्य पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया जाना चाहिए था। हर निबन्ध के नीचे उसका मूलस्रोत उल्लिखित होता तो शोधार्थियों को लाभ मिलता। डॉ. भगीरथ मिश्र ने इन निबन्धों पर टिप्पणी दी है—"इनमें अधिक निबन्ध वे हैं जो उस समय लिखे गए जब हमारे बीच आज की परिस्थितियाँ नहीं थीं। न तब भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ था और न हिन्दी भाषा को ही यह मान-महत्त्व प्राप्त हुआ था। साथ ही साथ उनके समय से आजतक हिन्दी के अन्तर्गत शोध और खोजकार्य भी इतना हुआ है कि उनकी धारणाएँ और मान्यताएँ यदि कुछ पुरानी जँचने लगे तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए। इस बात का ध्यान रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि डॉ. बड़थ्वाल के कथनों में सच्चाई का इतना बल था कि वे आज भी उतने पुराने नहीं पड़े जितने अन्य उनके समकालीनों के कथन पड़ गए हैं।[1]

डॉ. बड़थ्वाल के व्यावहारिक समीक्षापरक निबन्धों में 'मीराबाई और वल्लभाचार्य', 'केशवदास और उनकी रामचन्द्रिका', 'आचार्य कवि केशवदास', 'गोसाईं तुलसीदास', 'गोसाईं तुलसीदास की कविता', 'पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद' मुख्य हैं। शोध-इतिहास परक निबन्धों में भूषण का असली नाम, 'हिन्दी कविता में योग प्रवाह', 'उत्तराखण्ड में सन्तमत और सन्त साहित्य', 'उत्तराखण्ड के मन्त्रों में गोरखनाथ', 'हिन्दी काव्य की निरंजन धारा', 'नाथ पन्थ में योग तथा चौरंगीनाथ' प्रमुख हैं। सिद्धान्तपरक लेखों में सन्तों का सहज ज्ञान, सुरति-निरति, हिन्दी साहित्य में उपासना का स्वरूप तथा सन्त का नाम लिया जा सकता है। भाषा शास्त्रीय निबन्धों में—'बोली से साहित्यिक भाषा', 'कीर्तिलता की भाषा', 'ज्ञ का हिन्दी उच्चारण', 'मेल्णों की जीवन कथा' तथा 'गढ़वाली भाषा के परवाणा (कंहावतें)' उल्लेखनीय हैं। इतिहासपरक निबन्धों में 'कबीर पन्थ', 'हिन्दुत्व का उन्नायक नानक', 'छायावाद तथा हिन्दी काव्य में रहस्यवाद' की चर्चा की जा सकती है। संस्मरणात्मक लेखों में 'रामचन्द्रशुक्ल', 'डॉ. हीरालाल' तथा 'तारापाण्डेय की कविता' भी उल्लेखनीय हैं। 'मूल गोसाईं

---

1. *मकरन्द*, पृष्ठ 3

चरित और रामनरेश त्रिपाठी', 'ब्रजभाषा और रसकलश' तथा 'ज्ञ का हिन्दी उच्चारण' निबन्धों में पुस्तक समीक्षा का रूप देखने को मिलता है। इन निबन्धों की भाषा परिमार्जित, गम्भीर तथा व्यंग्य कटाक्ष की विशेषता से युक्त है, कहीं-कहीं भावुकतापूर्ण उद्‌गार भी मिल जाते हैं। तथ्य निरूपण, भावावेशमयी शैली, भारतीय तथा पाश्चात्य चिन्तकों के तुलनात्मक विचार और निश्चयात्मक कथन उनके निबन्धों की विशेषताएँ हैं। वाक्य रचना की जटिलता से बचा गया है। व्यक्तिगत आक्षेपों के उत्तर में उनकी भाषा धारदार और व्यंग्यात्मक भी हो गई है। निबन्धों में यथास्थान, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेज़ी तथा अपभ्रंश के साथ-साथ गढ़वाली के उदाहरण भी मिल जाते हैं। कहने का आशय यह है कि डॉ. बड़थ्वाल की लेखन शैली में तथ्यों की पुष्टि, भाषा-प्रवाह तथा शिक्षकोचित सरलता का संयोजन रहता है। वह विषय का स्पष्ट सप्रमाण प्रतिपादन करते हैं तथा अपने निष्कर्ष और राय देते चलते हैं। वैविध्य की दृष्टि से भी इन निबन्धों का अपना महत्त्व है।

निबन्धों में व्यक्त विचार

1. सन् 1190 में रचे गए चन्द के *पृथ्वीराज रासो* में भी इतनी मिलावट हो गई है कि उसके मूल रूप का पता लगाना कठिन हो गया है। परन्तु खुसरो के नाम से आज जो कविता मिलती है उसमें चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न हो गया हो। निश्चय ही मूलरूप में वह वही भाषा थी, जिसे हम आज हिन्दी कहते हैं।

   श्याम बरन की एक है नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी,
   या का अरथ जो कोई खोलै, कुत्ते की वह बानी बोलै।

   अब तो हिन्दी के भीतर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के अलग-अलग साहित्य हैं। परन्तु अनुमान होता है कि आरम्भ में हिन्दी का मध्य देश भर में एक सर्वग्राह्य रूप प्रचलित रहा होगा, जिसमें खड़ी, ब्रज आदि के रूप छिपे रहे होंगे। गोरख, जलन्धर, चौरंगी, कणेरी आदि योगियों के नाम से जो बानी मिलती है, सम्भवतः उससे हम उस भाषा का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

2. इन उद्धरणों से सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि 'ज्ञ' के हिन्दी उच्चारण में ग् और य् दोनों का संयोग है। यदि यह बात न होती तो गियान रूप बनता ही नहीं, शायद उसके स्थान पर जियान बनता। ऊपर के उद्धरणों में दो ऐसे भी हैं जिनमें 'गियाना' के साथ-साथ 'घियाना' भी आया है। इससे स्पष्ट हो जाता

है कि जैसे धियान का पूर्ण रूप ध्यान है उसी प्रकार गियान का निकटतम पूर्वरूप ग्यान है। गियान या गेआन (विद्यापति) से भी स्थिति में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उनमें ग्यान का 'य', ई + अ के रूप में विद्यमान है। गेआन में ए की मात्रा का उच्चारण लघु है और इ के निकट है। इस प्रकार यह अटल रूप से निश्चित है कि मेरा कथन कि 'ज्ञ' हिन्दी उच्चारण 'ग्य' ही है 'ज्ञ' नहीं, सत्य है, अमोघ सत्य है और जो सत्य है वह अवश्य वैज्ञानिक है।

3. सन्त की पहचान कठिन है। सन्त के लक्षण आभ्यन्तर होते हैं बाह्य नहीं। सन्त के कोई निश्चित बाहरी लक्षण नहीं, कोई बना-बनाया वेश नहीं, कोई बँधा रास्ता नहीं, वह बन्धनहीन मुक्त पुरुष है। सन्त अपनी आभ्यन्तर अनुभूति के कारण सन्त है। समाज की शृंखला को सन्त तोड़ना नहीं चाहता। समाज में प्रचलित अन्यायों और बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाने में वह बेशक नहीं हिचकता। उसका सांसारिक जीवन पारमार्थिक अद्वैत की व्यावहारिक सिद्धि है।
4. सहजज्ञान अथवा अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) जैसा स्वयं शब्द से ही स्पष्ट है प्रत्येक व्यक्ति में सहजात है। यह विचारवृत्ति तथा इन्द्रियज्ञान के परे तो है परन्तु उसकी प्राप्ति उन्हें कुण्ठित करने से नहीं होती। उसकी जागृति के लिए उनका पूर्ण संस्कार होना आवश्यक है। कबीर की परिभाषा में सहजज्ञान पाँचों इन्द्रियों को स्पर्श करता हुआ उनकी रक्षा करता है। जिससे इन्द्रियार्थों को त्याग कर पर ब्रह्म की प्राप्ति सरल हो जाती है। बर्गसां की भाँति निर्गुणी भी बुद्धि को हेय बताने के उद्देश्य से सहजज्ञान को उसके विरोध में खड़ा नहीं करता। वस्तुतः आपेक्षिक बुद्धि से प्राप्त ज्ञान को भी वह अपना लेता है जिससे उसे सहज ज्ञान में बार-बार सहायता मिलती है। जिस उन्मन दशा तक पहुँचने का प्रयत्न निर्गुणी करता है वह एकान्त मनोनिग्रहपूर्वक प्रेमपुष्ट स्थिर विचार और ध्यान का परिणाम है।
5. बिल्कुल विध्वंस की नीति को लेकर चलना समाज के लिए कभी भी कल्याणकारी नहीं होता, इस बात को नानक जानते थे। इसलिए उन्होंने हिन्दूधर्म में सुधार की चेष्टा की, उसके नाश की नहीं, उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद और जाति-पाँति का खण्डन किया परन्तु कभी किसी को हिन्दू धर्म छोड़ने को नहीं कहा और न स्वतः ही कभी हिन्दू धर्म को छोड़ा। हिन्दुओं के प्रणव मन्त्र ओ३म को उन्होंने आदरपूर्वक अपनी वाणी में स्थान दिया।

6. गोरखनाथजी के काल के बराबर बहुत समय तक योग की कविता का प्रवाह हिन्दी साहित्य में बहता रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्तिधारा की दो शाखाओं के दर्शन कराए हैं—एक निर्गुण शाखा और दूसरी सगुण शाखा। निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति धारा का जल पहले योग के घाट पर बहा था। गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर प्रणिधान में बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने ही वास्तव में योग का खण्डन किया है और न गोरख ने केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है। शरीर को व्यर्थ कष्ट देना कभी हठयोग का उद्देश्य नहीं है इसके विपरीत गोरखनाथ का उद्देश्य है—

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दृढ़ करि राखि अपना चीत॥
खाए भी मरिए अपखाए भी मरिए। गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए॥

इसलिए उन्होंने बौद्धों से मध्यमार्ग का ग्रहण किया है—

मधि-निरन्तर कीजै वास। निहचलमनुआ थिर ह्वै साँस॥

तन का योग केवल मन की सहायता के लिए है। बिना ईश्वर प्रणिधान के बाहरी योग केवल निष्फल ही नहीं जाएगा, हानि भी पहुँचाएगा।

आसण पवन उपद्रह करै। निसि दिन आरम्भ पचि-पचि मरै॥

आगे चलकर जब भक्ति की धारा नई भूमि पर नए आकार और नए वेग से बहने लगी तब उसका नाम निर्गुण धारा पड़ा।

7. मूलत: कैवल्यानुभूति ही योग कहलाती है। नाथ पन्थ का तात्त्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनों से परे है। उसे न बस्ती (भाव) कह सकते हैं और न शून्य (अभाव) यहाँ तक कि उसका नाम भी नहीं रखा जा सकता।

8. मन, काया का केन्द्रित चेतन स्वरूप है अथवा बृहत् चेतन इन्द्रिय है, जो शरीर की विभिन्न बाह्य इन्द्रियों पर शासन करता है। मन के चंचल होने पर शरीर भी चंचल हो उठता है और इन्द्रियाँ विषयों की ओर लपकने लगती हैं। अतएव इन्द्रियों को विषयों से उठाने के लिए मन के बहि:प्रसार को समेट कर उसे आत्मतत्त्व की ओर प्रेरित करना चाहिए।

गोरख बोलै सुणहु रे अवधू, पंचौ पसर निवारी।
अपणी आतमा आप पिचोरो, सोवौ पाँव पसारी॥

आत्म चिन्तन का सबसे बड़ा सहायक अजपा जाप है। नाथ योगियों का विश्वास है कि रात-दिन में मनुष्य के इक्कीस हज़ार छह सौ श्वास चलते

हैं। इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैत भावना करना अजपा जाप कहलाता है। अजपा जाप का अभिप्राय यह है कि बिना ब्रह्मभावना के एक भी श्वास व्यर्थ न जाए। कुछ अभ्यास हो जाने पर बिना किसी प्रयत्न के गुप्त रूप से मन में यह भावना निरन्तर अपने आप हुआ करती है, यहाँ तक कि ब्रह्मभावना उसकी चेतना का स्वरूप हो जाती है।

9. जिह्वा से रामनाम कहने से लेकर अजपा जाप तक सब स्मरण ही है और सुरति की उल्टी धार है। अन्त में वह अवस्था आती है जिसमें सुष्ठरति नि:शेष या निरतिशय रति हो जाती है। सुरति इतनी पूर्ण हो जाती है कि वह स्मृति रूप से नहीं, तदात्म रूप से हो जाती है। वह अवस्था निरति कहलाती है।
10. तंज्यूर में चौरंगी का नाम उल्लिखित है, जहाँ वे 'वायुतत्त्व भावनोपदेश' नामक ग्रन्थ के रचयिता बताए गए हैं। हिन्दी में उनकी चार छोटी-छोटी सबदियाँ मिलती हैं जो बहुत समय पर परम्परा से कानों कान चली आने के कारण सम्पूर्ण रूप में उतनी पुरानी नहीं हो सकती जितने स्वयं चौरंगी रहे होंगे। जान पड़ता है कि ये सबदियाँ दादू के शिष्य रज्जब के समय में लिपि-बद्ध रूप में विद्यमान थीं। उन्होंने अपने *सर्वांगी* नामक बृहत् संत वाणी संग्रह में नाथ सिद्धों की बानियों को भी स्थान दिया है। जोगियों की बानियों का सबसे प्राचीन विद्यमान संग्रह संवत् 1715 विक्रम का है, जिसमें गोरख की बानी संगृहीत है। लगभग यही समय *सर्वांगी* का है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पहले भी योग बानियाँ लिखित रूप में रही होंगी।
11. कबीर की शिक्षाओं के विरुद्ध उनके नाम के साथ एक सम्प्रदाय जुड़ गया है। प्राय: सभी सुधारक साम्प्रदायिकता के विरोध में अपनी आवाज़ उठाते हैं और अन्त में सभी के प्रयत्न एक नए सम्प्रदाय में प्रतिफलित हो जाते हैं जो कालान्तर में औरों ही की भाँति एक न एक कट्टरता के केन्द्र बन जाते हैं।
12. निरंजन धारा भी सिद्ध, नाथ तथा निर्गुणधाराओं की ही भाँति आध्यात्मिक धारा है। निरंजनियों का उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योग मार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की सारी साधना पद्धति उसमें विद्यमान है। निरंजनियों का उद्देश्य है इड़ा और पिंगला के मध्य स्थित सुषुम्ना को जागृत कर अनाहद नाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना तथा बंकनालि के द्वारा शून्य मण्डल में अमृत का पान करना। जो साँस की डोरी उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है वह है नाम स्मरण, यहाँ इन्द्रियों का

दमन नहीं, शमन आवश्यक है।

13. निरंजन पन्थ में प्रेम तथा योग तत्त्व सम्भवतः रामानन्द या उन्हीं के सदृश किसी सन्त से आए हैं। ये प्रेम तथा योग तत्त्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्रायः सभी शिष्यों की बानियों में पाए जाते हैं, इसलिए इनका मूल स्रोत गुरु में ही ढूँढ़ना चाहिए। इस बात का समर्थन रामानन्द कृत कहे जाने वाले *ज्ञानतिलक* और *ज्ञानलीला* नाम के छोटे ग्रन्थों से तथा *सिद्धान्तपटल* से भी होता है, जिसके अनुसार राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिए हैं उनमें योग का निश्चय रूप से समावेश है।

14. कबीर का सन्तमत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह भी गढ़वाल में सिद्ध माना जाता है। कहीं-कहीं पर उसको कबीरनाथ भी कहते हैं। गढ़वाल के डोम, जो निंकार (निराकार) को पूजा चढ़ाया करते हैं, वस्तुतः कबीर के ही अनुयायी हैं। निरंकार की पूजा में कबीर की जागर लगती है। यद्यपि कबीर अहिंसावादी थे फिर भी डोम निरंकार की पूजा में बड़ी निर्दयताा से सुअरों का बलिदान करते हैं। किन्तु इस बलिदान को भी उन्होंने विलक्षण रूप से कबीर के साथ जोड़ दिया है।

15. यह एक अर्थपूर्ण तथ्य है कि कातना-बुनना आसाम और बंगाल में जोगियों का, जिन्हें वहाँ जुगी कहते हैं, एकमात्र आनुवंशिक व्यवसाय माना जाता है। अब ये यद्यपि खेती-बाड़ी आदि अन्य व्यवसायों में भी लगने लगे हैं फिर भी इनका प्रधान व्यवसाय कताई-बुनाई ही माना जाता है। बहुत-से जोगी तो मुसलमान हो जाने पर भी अब तक जोगी बने हुए हैं। मिस्टर कूक के अनुसार सम्भवतः सन् 1891 में पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के कुल 95,980 जोगियों में से 17,593 मुसलमान जोगी थे। गोरखनाथ का आदर सभी प्रकार के जोगियों में होता है। कबीर भी किसी प्राचीनतया कोरी लेकिन तत्कालीन जुलाहा कुल के थे, जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था। कबीर का यही कुल परम्परागत मानसी रूप उन्हें इस्लाम के विरोध में उभारा करता था और हिन्दुओं की उच्च दार्शनिक भावनाओं का अभिनन्दन करने के लिए बाध्य करता था।

16. मीरा प्रत्यक्षतः कृष्ण भक्त है, परन्तु यदि गहरे पैठ कर देखा जाए तो जान पड़ेगा कि उसका ध्यान अवतार की ओर उतना नहीं है जितना ब्रह्म की ओर। जिस नन्दनन्दन गिरिधर गोपाल के विरह में वह अँसुवन की माला पोया करती है, जिसकी बाट जोहते उसकी छमासी रात बीतती है, जिसके रूप पर

मुग्ध होकर उसे परलोक कुछ नहीं सुहाता, जिससे वह अपनी बाँह मुड़वाना और घूँघट खुलवाना चाहती है, वह पूर्ण ब्रह्म है।

इस निर्गुण ब्रह्म का गगन मण्डल में निवास है। गगन मण्डल में बिछी हुई सेज पर ही प्रिय को मिलने की उत्कण्ठा वह अपने मन में रखती है। सुरति का वह दीपक बनाती है जिसमें प्रेम के बाज़ार में बिकने वाला तेल भरा रहता है और मनसा (इच्छा) की बत्ती जलती रहती है। उसका प्रेम मार्ग उसे ज्ञान की गली में ले जाता है। इस पद में त्रिकुटी ध्यान और भ्रूमध्य दृष्टि की ओर स्पष्ट संकेत है। मीरा का ध्येय है पूरन पद। निरंजन का वह ध्यान करती है। अनाहद नाद को सुनती है। निष्कर्ष यह कि यह कबीर की निर्गुण भावना के सर्वथा मेल में है। उसी तात्पर्य के सहित कबीर की प्रायः सारी शब्दावली मीरा में मिलती है।

वल्लभाचार्य और मीरा के बीच यही गहरा तात्त्विक मतभेद था, जिसके कारण वार्ता में मीरा को आक्षेपित किया गया है।

17. केशव को रीति प्रवाह का प्रवर्त्तक कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी में उन्होंने पहले-पहल साहित्य शास्त्र पर कलम चलाई। उनसे पहले भी साहित्य शास्त्र के अंगों पर ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में पुष्य नामक कवि ने अलंकार पर ग्रन्थ लिखा था, जो अब मिलता नहीं। गोप कवि ने भी अलंकार के दो छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे थे। हिन्दी साहित्य शास्त्र सम्बन्धी सबसे पुरानी प्राप्त पुस्तकें मोहनलाल भट्ट का *शृंगार सागर* और कृपाराम की *हित तरंगिनी* हैं जो अकबर के राज्यकाल में रची गई थी। उसी समय के लगभग रहीम ने बरवै छन्दों में *नायिका भेद* लिखा। कर्णेश ने *कर्णाभरण, श्रुति भूषण* तथा *भूप भूषण* तीन छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे। स्वयं केशव के बड़े भाई बलभद्र ने नखशिख और दूषण विचार पर लिखा था। परन्तु ये सब उथले और क्षीण प्रयत्न थे और लोकरुचि के परिवर्तन की दिशा के संकेतक होने पर भी साहित्य शास्त्र के विस्तीर्ण और अप्रतिबन्ध मार्ग न खोल सके। इस दिशा में सबसे पहला विस्तृत और गम्भीर प्रयत्न केशव ही का था और यद्यपि उनके मत को हिन्दी में साहित्य शास्त्र पर लिखने वालों ने आधार रूप से ग्रहण नहीं किया फिर भी उन्होंने लोगों की प्रवृत्ति को एक विशेष दिशा की ओर पूर्णतया मोड़ दिया। इसलिए वे रीतिप्रवाह के प्रवर्त्तक और प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

18. एक पुराने हस्तलिखित कविता संग्रह में जिसके आदि अन्त के पृष्ठ नष्ट हो

गए हैं और इस कारण जिसके नाम संग्रहकार, निर्माणकाल तथा लिपिकाल का कुछ पता नहीं चलता, भूषण के नाम पर शृंगार रस के 25 पद्य दिए गए हैं। उनके शृंगार सम्बन्धी 11 पद्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि सम्पादक पंचक की *भूषण ग्रन्थावली* में भी दिए गए हैं। तीन पद्य दोनों में समान हैं। इस नव प्राप्त संग्रह में प्रायः सब रसों की कविता संगृहीत है। किन्तु अधिकता शृंगार रस की ही कविता की है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है (शिवराज भूषण) कि भूषण उतने अच्छे लक्षणकार नहीं थे जितने अच्छे कवि। फिर भी उन्हें लक्षण ग्रन्थ बनाने का ही ध्यान आया। इससे यह स्पष्ट है कि सामयिक प्रवृत्ति का उनके ऊपर कितना अधिक प्रभाव था। अनुमान होता है कि भूषण ने कवि कर्म का आरम्भ शृंगारी कविता से ही किया होगा जो परम्परावश लिखी होने तथा आरम्भिक रचनाएँ होने के कारण उतनी अच्छी नहीं बनीं।

19. देशभक्ति का भाव पहले नहीं विद्यमान था, यह तात्पर्य नहीं, परन्तु ये केवल छींटे ही थे। हरिश्चन्द्र जी ने तो इसकी धारा ही बहा डाली। उनकी रचनाओं में देश रति के भाव को स्थायित्व प्राप्त हुआ।
20. देश रति ने दाम्पत्य रति को भी बहुत कुछ प्रभावित कर डाला है। कवि सम्राट 'हरिऔध' जी जैसे सतर्क कवि का भी नायिका भेद में देश प्रेमिनी, जाति प्रेमिनी आदि नायिकाओं को स्थान देना इसका उत्कट प्रमाण है।
21. गढ़वाली अबाध गति से बदल रही है। यदि परिवर्तन की यही द्रुतगति रही तो एक दिन ऐसा आयेगा जब केवल ढाँचा भर गढ़वाली रह जाएगी और रूप सब तत्सम (संस्कृत) के आ जाएँगे। अतएव गढ़वाली की ही रक्षा की दृष्टि से नहीं, बल्कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि गढ़वाली का शुद्ध रूप क्या था, अथवा क्या है? यह जानने का कुछ साधन उपलब्ध हो।
22. जिस मागधी से पाली का जन्म हुआ वह इस भाषा (कीर्तिलता की भाषा) से सर्वथा भिन्न जान पड़ती है। इस मूल मागधी के क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन लेकर संस्कृत और महाराष्ट्री ने प्रवेश पाकर जब कुछ परिवर्तन सहन किया तब पालि का जन्म हुआ। मागधी का जो रूप नाटकों से हमें प्राप्त होता है, वह महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। अतएव विद्यापति ने अपने जिस साहित्यिक अवहट्ठ का कीर्तिलता में सहारा लिया, उसमें शौरसेनी से उद्भूत नागर अपभ्रंश की समानता मिलना अस्वाभाविक नहीं।

23. जायसी की कहानी बड़ी सुन्दर है। उनकी आध्यात्मिक लगन भव्य है। परन्तु हमें शिकायत इस बात की है कि उन्होंने इन दोनों का मेल ठीक नहीं किया है। अपने अध्यात्मवाद के लिए पद्मावत की कहानी चुनकर और पद्मावत की कहानी में अध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असम्भव को सम्भव बनाने में हाथ लगाया है। इन दोनों का समन्वय हो नहीं सकता। *पद्मावत* की कहानी में ये दोनों उन दो प्रतिकूल प्रकृति वाले पड़ोसियों के समान हैं जो खटपट और हाथापाई में समय बिताकर एक-दूसरे को लांछित करते रहते हैं। कहानी अध्यात्मवाद की हँसी उड़ा रही है और अध्यात्मवाद कहानी को विरूप बना रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर आदि ने भी विपर्यय-चमत्कार लाने के उद्देश्य से दुनिया-धन्धा की उपमा प्रथम कुलवंती परिणीता से दी है जिसे छोड़कर नई बेपर्द स्त्री रूप मायारहित भक्ति को ब्याह लाना विधेय बतलाया है।
24. मुसलमान भी निर्गुण उपासक थे। अतएव उनसे मिलते-जुलते पथ पर लगाकर कबीर ने हिन्दू जनता को सन्तोष और शान्ति प्रदान करने का उद्योग किया। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिए मार्ग परिष्कृत कर दिया और उत्तर भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिए उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत बना दिया।
25. जायसी एक सफल अन्योक्तिकार नहीं है क्योंकि *पद्मावत* में अन्योक्ति का सूत्र कहानी को एक से दूसरे सिरे तक बेधता नहीं गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एकरस नहीं दिखाई देते।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन सभी गवेषणात्मक एवं आलोचनात्मक निबन्धों का उद्देश्य या तो हिन्दी साहित्य की आदिकालीन काव्यधारा के अन्तरालों को भरना था, लुप्त कड़ियों की खोज कर साहित्यिक प्रवृत्तियों की अखण्ड परम्परा को स्थापित करना था या पूर्व अथवा समकालीनों द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहास की मान्यताओं का संशोधन करना था। उन्होंने यद्यपि यह सामग्री वास्तविक इतिहास निर्माण के लिए जुटाई थी पर इनसे आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानों की स्थापनाओं पर भी प्रहार हुए। सारस्वत चेतना के संसार में इसका बुरा भी नहीं माना जाता। इन निबन्धों से उनके व्यापक अध्ययन का भी पता चलता है। वह मौलिक प्रतिभा के धनी थे, इसलिए उन्होंने अपने गुरुजनों की लीक से भिन्न मार्ग खोजा। श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन के समान

कबीर, तुलसी, जायसी, सूर और केशव पर भी उन्होंने लिखा-पढ़ा पर निर्गुणधारा में रामानन्द, नाथ और निरंजन सम्प्रदाय पर लिखकर तथा हस्तलेखों और पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण कर उन्होंने शोध पूर्ण इतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री प्रदान की। हिन्दी की महत्त्वपूर्ण किन्तु अप्रकाशित सामग्री के प्रस्तुतीकरण में राहुल जी ही उनके समक्ष खड़े होते हैं। काश, वह कुछ वर्ष और जीवित रहते तो वह दुर्लभ सामग्री हिन्दी संसार को मिल जाती जो कठिन परिश्रम से घूम-घूम कर एकत्र की थी पर जिसे उनकी मृत्यु के बाद साहित्य की कनकछाल लपेटे कुछ लोग लूट कर ले गए। इतना होने पर भी जो बचा वह मूल्यवान है। गवेषणा, नवीनता, तथ्यात्मकता, अकाट्यता तथा प्रांजलता इन निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

4

चयन

सुरति-निरति

सुरति तत्त्व के सिद्धान्त और साधन-पथ की भित्ति है। हिन्दी में सुरति का सामान्य अर्थ है 'स्मृति, याद'। तुलसीदास[1], सूरदास[2], घनानन्द[3] से लेकर 'हरिऔध'[4] तक अधिकांश में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में यह शब्द संस्कृत के स्मृति शब्द से निकला है। म का लोप, ऋ का उ में परिवर्तन और उसके संसर्ग से र का आगम—इस प्रकार सुरति शब्द सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त और अर्थों में भी इसका प्रयोग मिलता है। सुरति का अर्थ सुष्ठु प्रेम (सु-रति) और सुरति का अर्थ रति-क्रीड़ा (सुरत)। इस प्रकार सुरति अक्षर समूह में तीन शब्दों का परिवर्तित रूप छिपा है। कवि सेनापति ने तीनों अर्थों में एक ही पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग करके यमक का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[5]

---

1. बार बार रघुनाथहिं सुरति कराएहु मोरि—*रामचरितमानस,* काण्ड-7, पद-19 और भी देखिए 2.56, 2.325, 3.2, 5.14, 6.99 (गीताप्रेस संस्करण)
2. रीति मटकी सीस धरै।
   बन की घर की सुरति न काहूँ, लेहु दही यह कहति फिरै।
   कबहुँक जाति कुन्ज भीतर कौं, तहाँ स्याम की सुरति करै। (*सूर सुषमा,* पृष्ठ 192, 360
3. लागी है लगनि प्यारे, पगी है सुरति तोसों, जगी है बिकलताई, ठगी सी अदा रहै। *सुजान सागर* (ना.प्र.स.) पृष्ठ 74
4. कन्सारी को सुरति ब्रज के वासियों की कराना। *प्रियप्रवास,* सर्ग 6, छन्द 99
5. साँवरे की सुरति की सुरति कराइ करि डारत बिहाल है। (साँवले कृष्ण की सुन्दर प्रेम वाली रति क्रीड़ा की स्मृति कराकर राधिका को व्याकुल कर देते हैं)—सेनापति।

सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग स्मृति के अर्थ में किया है। उनका सिद्धान्त है कि सत्व परब्रह्म इसी शरीर में है। परमात्मा और आत्मा तथा आत्मा और जीव में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं। माया के सूक्ष्म-स्थूल आवरणों को धारण कर ब्रह्म ही जीव हो गया है। हमें इस बात का ज्ञान न होने पर भी वह हमारे भीतर अपने पूर्ण प्रकाश से जाज्वल्यमान है। ब्रह्म से शब्द ब्रह्म, त्रैगुण्य पंचभूत, अन्तःकरण, अहंकार और स्थूल माया—इस प्रकार ब्रह्म के विवर्तन से चराचर सृष्टि का बँधान खड़ा हुआ और जीव बन्धन में पड़ा। ब्रह्म के ऊपर पड़ी हुई परतें दूसरी दृष्टि से देखने से कोश नाम से अभिहित की जाती हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश आत्मा के ऊपर पड़ी हुई परतें ही हैं। कल्पना कीजिए कि एक न बुझने वाला बृहत् प्रकाश पुञ्ज है जिस पर एक के ऊपर एक दूधिया काँच और अन्य धातुओं के खोल चढ़े हुए हैं, जिससे प्रकाश बाहर नहीं दिखलाई देता। परन्तु हमारे न देख सकने पर भी प्रकाश तो वहाँ है ही। यही दशा हमारे भीतर के प्रकाश की है। अन्तर केवल इतना है कि उक्त प्रकाश-पिण्ड के ऊपर से परतें हटाकर हम उसका दर्शन कर सकते हैं किन्तु आत्मा के ऊपर की परतें यों नहीं हटाई जा सकतीं। अब यदि हमारे वश में ऐसी क्रान्तिदर्शी किरण हो जो घनी से घनी धातुओं में प्रवेश कर उनको भी पारदर्शी बना दे तो इन खोलों के ऊपर उसका प्रयोग कर उन्हें बिना हटाए ही हम इस प्रकाश पुञ्ज का दर्शन कर लें। ब्रह्मज्योति के सम्बन्ध में सुरति यही क्रान्तदर्शी किरण है जिसके कारण जीव इसी जीवन में ब्रह्म साक्षात्कार करके मुक्त हो सकता है, जीवनमुक्त हो सकता है।

जीवात्मा जीव होते हुए भी आत्मा है। जीवत्व में उलझी हुई आत्मा अपने आत्मत्व को कभी त्यागती नहीं है। इस माया-जनित विस्मृति में भी जीव को कभी-कभी अपने आत्मत्व की स्मृति हो आती है। ऐसे अवसरों पर कभी बिना प्रत्यक्ष कारण के और कभी दुःख शोकादि से उद्विग्न होकर संसार से उनका जी भी उचट जाता है। क्या उसे तृप्ति देगा, वह यह नहीं जानता। हाँ, उसे यहाँ तृप्ति नहीं मिलती। बाल्यावस्था के भोलेपन में दार्शनिक प्रवृत्ति वाले भावुक कवि इस स्मृति की शुद्ध आत्म ज्योति की झलक देखते हैं और फिर से बालक हो जाना चाहते हैं।[1] बालकपन में यहाँ की स्मृति रहती है। बालक मानों परमात्मा के पास से सद्यः आता है। गर्भस्थ शिशु की कल्पना सन्त लोग एक तपस्वी के रूप में करते हैं। पूर्व कर्मों के कारण जीव को गर्भ में आना पड़ता है। वहाँ वह माना पूर्वकृत कर्मों के लिए

---

1. *कबीर ग्रन्थावली* पृष्ठ 29, 12। देखिए आगे टिप्पणी 4, पृष्ठ 267

पश्चात्ताप करता हुआ विशुद्ध प्रार्थनामय-परमात्मामय अस्तित्व रखता है।[1] इसलिए शुद्ध आध्यात्मिक रूप में वह जगत में अवतरित होता है। शैशव में इसलिए स्मृति मानों मूल की ओर रहती है। अहं का ज्ञान शिशु को नहीं रहता। धीरे-धीरे अहं की भावना उसके भीतर प्रतिष्ठित होती जाती है। यहाँ की स्मृति वहाँ की स्मृति को दबाती जाती है। जो कुछ कर्म वह करता है मैंने वह किया, मैं उसका कर्ता हूँ, इस रूप में यहाँ की प्रत्यभिज्ञा (स्मृति ज्ञान) उसको होती है। यहाँ की प्रत्यभिज्ञा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वहाँ की स्मृति विस्मृति में बदलती जाती है और इसके साथ ही कर्मों का बन्धन और माया का अन्धकार भी।[2] माया जाल के इसी बन्ध को वह अपना घर समझने लगता है। वहाँ की स्मृति सर्वथा दबती जाती है और यहाँ की प्रत्यभिज्ञा, उसके समस्त अस्तित्व को घेर लेती है। यहाँ की प्रत्यभिज्ञाएँ ही जीव को उसका जीवन्त देती हैं, जीव को जीव बनाती हैं और दुःख में डालती हैं। इसलिए राधास्वामी सम्प्रदाय में जीव को सुरति कहते हैं। जीव यहाँ की सुरति है वहाँ की सुरति नहीं। चेतना सुरति का मार्ग है। इसलिए विस्तृत अर्थ में मन ही सुरति है।[3]

---

1. गरभ कुंडि तर जब तू बसता ऊरध ल्यौ लाया।
   उरध ध्यान मृत मंडलि आया नरहरि नाव भुलाया॥ *कबीर ग्रन्थावली,* पृष्ठ 221, 401
2. उजला आया से जतन किया कर काल,
   चाल भुलानो आपनी यों भया बन्धन जाल। —तुलसी, *रत्नसागर,* पृष्ठ 17
3. चेतन पैंडा सुरति का दादू रहु ल्यौ लाइ। —*दादूबानी भाग-1,* पृष्ठ 89
   भीखा! यही सूरति मन जानो। सत्य एक दूसरि मति मानो॥ —*महात्माओं की बानी* पृष्ठ 199। श्री सम्पूर्णानन्द ने स्रोत से सुरति को निकाला है और चित्तवृत्तिप्रवाह उसका अर्थ किया है। विद्यापीठ, त्रैमासिक भाग-2, पृष्ठ 135। यहाँ की सुरति के अर्थ में स्रोत का प्रयोग *धम्मपद* में भी हुआ है जिसमें मन के 36 स्रोत माने गए हैं। आँख, नाक, कान, जीभ, काया (त्वचा), मन, रूप, गन्ध, स्पर्श, धर्म (मन का विषय), आँख का विज्ञान (आँख से होने वाला ज्ञान), कान, नाक, जीभ, त्वचा के विज्ञान (त्वचा से होने वाला ज्ञान), कान, नाक, जीभ, काया (शरीर) के विज्ञान भीतरी बाहरी भेद से ये 36 स्रोत हैं, जिनमें मन बहता है।

   यस्स छत्तिसती सोता मना पस्सवना भूता, वाहा वहन्ति दुधिट्ठि सङ्कप्पा राग निस्सिता। 24,6 (जिसके छत्तीस स्रोत मन को भली लगने वाली वस्तुओं में ही लगाते हैं, उसके लिए राग निस्सृत संकल्प बुरी धाराणाओं को वहन करते हैं)।

   सब्बन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति, तं च दिस्वा लतं जातें मूल पंचाय छिंदथ। 24,7 (ये स्रोत सब दिशाओं में बहते हैं जिससे तृष्णारूपी लता अँकुरी रहती है। उत्पन्न हुई तृष्णा लता को देखकर प्रज्ञा से उसकी जड़ को काटो।)

'उलटा-सुलटा दौंह दिसा चाहै सुरति सुभाय', (गरीबदास, *आदि ग्रन्थ* अंग 49.54 पृष्ठ 173)।

सुरति की गति दोनों ओर है—इधर भी, उधर भी, सुलटी भी, उलटी भी।

जिसकी सुरति जहाँ रहे, तिसका तहाँ बिसराम,
भावै मायामोह मैं, भावै आतमराम।

दादूबानी भाग-1, अंग-6,107, पृष्ठ 112

विषया अजहूं सुरति सुख आसा, हूंण न देइ हरि चरण निवासा।

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ 114, 82

वहाँ की सुरति माया में भी आत्मा का शुद्ध रूप है, यहाँ की सुरति आत्मा का माया में बद्ध (जीव) रूप है।

पालो तव नाम कुल करतार, बाँधकर चढ़ो सुरत का तार,
मीन मत चढ़ गई उलटी धार, मकरगत पकड़ा अपना तार।

सार वचन भाग-1, पृष्ठ 213

राधास्वामियों को छोड़कर अन्य सब सन्तों ने वहाँ की स्मृति के अर्थ में ही सुरति शब्द का प्रयोग किया है। योग की साधनाओं के द्वारा अथवा अन्य कई अव्यक्त कारणों से कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को कई जन्मों की स्मृति हो आती है। वह भी चमत्कारी होने पर भी यहाँ की स्मृति है, वहाँ की नहीं।

मन की बहिर्मुखवृत्ति का कारण यहाँ की प्रत्यभिज्ञा है। वहाँ की सुरति उसे अन्तर्मुख बनाती है। मन के प्रसरण शील स्वभाव को पीछे की ओर मोड़ना ही, सुलटी सुरति को उलटी करना ही साधना मार्ग है,[1] प्रभु से सम्मुख रहना है।[2] इसलिए सन्तों ने स्मरण का विधान किया है। सन्त मत ही में क्या, प्राय: सब साधना मार्गों में किसी-न-किसी रूप में स्मरण का विधान किया गया है। सत्संग, दीक्षा-ग्रहण, जप-तप-योग, सब इसी उद्देश्य के लिए किए जाते हैं। ये सब अपनी-अपनी दिशा से, सुरति को अन्यत्र से हटाकर परमतत्त्व में सिमटाते हैं। जब तक

---

1. जौ तन माहैं मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।
साहिब सौं सनुमुख रहै, तो फिरि बालक होई॥ —*कबीर ग्रन्थावली,* पृष्ठ 29, 12
2. जब लग स्रुति सिमटै नहीं, मन निहचल नहि होइ।
तब लग पिव परसे नहीं, बड़ी विपति यह मोइ॥ —*दादूबानी,* भाग-1, पृष्ठ 31, 19
प्रेम करु तुम नेम हिय मैं सुरति डोरी धुनि,
दास बुल्ला बानि बोलहि आनि तिरेबेनि॥ —*बुल्ला बानी,* पृष्ठ 8, 6
सुरति सदा स्यावति रहै, तिनके मोटे भाग,
दादू पीवै राम रस, रहै निरंजन लाग॥ —*दादूबानी,* भाग-1, अंग 5,30 पृष्ठ 90

सुरति सिमटकर बिना टूटे सूत्र की भाँति आत्मा में एकतान भाव से नहीं लगती, तब तक लक्ष्य सिद्धि नहीं होती।[1] सत्संग-साधु और गुरु का संग—सुरति को उलटने के लिए अनुकूल परिस्थिति प्रस्तुत करता है। इस वातावरण में नाम-मन्त्र प्रदान कर गुरु पुरातन स्मृति के टूटे तार को जोड़ता है। साधुओं की, गुरु की संगति में साधक वहाँ की बातें सुनता है, जिससे उसके हृदय में वहाँ के लिए प्रीति उत्पन्न होती है और स्मरण में उसका जी लगता है, इसलिए किसी-किसी ने श्रुति, श्रवण से सुरति की व्युत्पत्ति मानी है।[2] जगत् में भी गुण श्रवण मात्र से प्रेम (विरह) उत्पन्न हो जाता है, जैसा नल-दमयन्ती को परस्पर हुआ था। और जिस क्षेत्र में दर्शन प्रेम के बिना असम्भव है उसकी बात ही क्या कहनी है।[3] बिना पहले हमारे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुए परमात्मा का दर्शन करना हमारे लिए शक्य नहीं। इसलिए अपने आत्मत्व के उपपादन के लिए स्मरण का विधान है, क्योंकि स्मरण प्रेम का ही दूसरा रूप है—

काम परे हरि सुमरिए, ऐसा सिमरौ नित्त।
अमरापुर वासा करहु, हरि गया बहे मै वित्त॥

—*कबीर ग्रन्थावली,* पृष्ठ 250, 23

परमात्मा का स्मरण तो सब करते हैं पर काम पड़ने पर। भगवान् की प्रीति तब सिद्ध हो सकती है जब ऐसा स्मरण नित्य हो।

सुरति रूप सरीर का पिब के परसें होई।
दादू तन मन एक रस सुमिरण कहिए सोइ॥

—*दादूबानी,* भाग-1, अंग 4,163, पृष्ठ 63

(श्रुति भी स्मृति को ब्रह्मोपलब्धि का साधन मानती है। छान्दोग्य कहता है कि स्मृति प्राप्त होने पर सब ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं—स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः 7,27,2। *अठारह* अध्याय, *गीता*। श्रीकृष्ण के मुख से सुन लेने पर अर्जुन को जो लाभ हुआ वह स्मृति लाभ ही है, जैसा उसने स्वयं अपने मुँह से कहा है—'नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्मयाच्युत।' (18,73)। स्मरण अगम से आती हुई सृजन की धारा को—जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है—उलटे अलग में पलटना है। स्मरण की चरम सीमा अजपा जाप है, जिसमें साधक का एक क्षण भी परमात्मा के

---

1. कोटि ग्रन्थ का अरथ है सुरत ठिकानौ राख। —*गरीबदास आदि ग्रन्थ,* अंग 54, 18, पृष्ठ 238
सरस्वती भवन स्टडीज, भाग-8 में तारकनाथ सान्याल का लेख *'इण्डियन फ़िलॉसफ़ी'*।
2. देवै किरका दरद का टूटा जोड़ै तार,
दादू साधै सुरति को सो गुरु पीर हमार॥ —*दादूबानी* भाग-1, पृष्ठ 6
3. सुमिरन मन की प्रीति है। —*कबीर वचनावली,* पृष्ठ 12, 111

प्रेम के बिना नहीं बीतता है। उसकी प्रत्येक साँस स्मरण का प्रतिरूप हो जाती है। उसका सारा अस्तित्व परमात्मा की स्मृतिमय, सुरतिमय हो जाता है।[1]

जिह्वा से रामनाम कहने से लेकर अजपा जाप तक सब स्मरण ही है और सुरति की उलटी धार है। अन्त में वह अवस्था आती है जिसमें सुष्ठुरति निःशेष या निरतिशय रति हो जाती है। सुरति इतनी पूर्ण हो जाती है कि वह स्मृति रूप से नहीं तदात्मरूप से हो जाती है। वह अवस्था निरति कहलाती है।[2] यही वास्तविक ज्ञान की अवस्था है जो सच्चे साधक की उत्सर्पिणी प्रार्थना है।[3] उसमें माया का सर्वथा त्याग और आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रतिष्ठापन हो जाता है।[4] काल के चंगुल से छूटकर जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है और आध्यात्मिक आनन्द में निमग्न होकर नाचने लगता है।[5] यह सुरति की निरति दशा है। निरति शब्द नृत्य का परिवर्तित रूप है और ब्रह्मानन्द का द्योतक है।

कबीर और गाँधी

गाँधी की सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हें कबीर के साथ ले जाकर रखती है, उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं जिसे उन्होंने कबीर के शब्दों में अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश

---

1. जैसे सुरति की एक सम्भव व्युत्पत्ति सुष्ठुरति है, वैसे ही निरति को निःशेष या निरतिशय रति भी।
2. तूं तूं करता तूं हुआ। —*कबीर ग्रन्थावली,* पृष्ठ 5,6
3. सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
   सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयंभू द्वार॥ 22॥
   सुरति समांणी निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
   लेख समांणा अलेष मैं, यू आपा माहैं आप॥ 23॥ —*कबीर ग्रन्थावली,* पृष्ठ 14
4. तू है तैसी सुरति दे, तू है तैसा षेम। —*दादूबानी,* भाग-1, पृष्ठ 34, 44
   ब्रह्म और माया में, आत्म और अनात्म में अन्तर करने वाली निर्णायक शक्ति विवेक कहलाती है। राधास्वामी साहित्य में इसलिए निरति का अर्थ निर्णय करने वाली शक्ति किया गया है—*सारवचन,* भाग-1, पृष्ठ 237 (आठवीं वृत्ति)। परमात्मा का वास्तविक ज्ञान निरति में ही होता है, मानों हमें परमात्मा का पता लग गया, ख़बर मिल गई। इसलिए डिंगल साहित्य में निरति का अर्थ पता लगाना, समाचार मिलना होता है—
   राजा कउ जण पाठवइ, ढोलक निरति न होइ।
   मालवणी मारइ तियउ, पूगल पन्थ जि कोइ॥ —*ढोला मारू रा दूहा,* 66 दू.
5. और मार्गों में भी तदात्म-अनुभव में नृत्य भाव मान लिया गया है—
   यद्यानन्द समुत्पन्न नृत्यते मोक्ष हेतुना। (द्विकल्प)
   —*बौद्धगान ओ दोहा कोष,* पृष्ठ 31, अन्तिम पंक्ति

कहा है।[1] इस प्रकाश की उन्हें थोड़ी-सी ही सही झलक अवश्य प्राप्त हो गई थी। उस परम ज्योति में अपनी जीवन-ज्योति को मिला देने का उन्होंने सफल प्रयत्न किया है, उनकी आत्मकथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके सब कामों में वही ज्योति जगमगा रही है। उस दुर्बल से शरीर को लोक कल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति के दर्शन से प्राप्त हुई है। उसके दर्शन ने उनको सत्य का सबसे बड़ा समर्थक बनाया है। कबीर की ही भाँति उनके लिए सत्य ही एक मात्र परमात्मा है। सत्य की स्वानुभूति के प्रकाश में ही वे जगत् की सब बातों को देखना चाहते हैं। उनके लिए कार्याकार्य का वही एक मापदण्ड है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए वे उसी की अनुज्ञा चाहते हैं। उसी के भीतरी शब्द की ओर वे हमेशा अपने कान लगाए रहते हैं और इसी के आदेश के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते हैं। फिर चाहे ऐसा करने में सारी दुनिया के विरुद्ध जाना पड़े। इसी अभिप्राय से कबीर अपने को सत्यनाम का उपासक और गाँधी अपने जीवन को 'सत्य के प्रयोग' कहते हैं।

गाँधी का धर्म सब विशेषताओं और आडम्बरों से शून्य सरल धर्म है जो सर्वदा और सर्वत्र एक रस रहता है। यदि कबीर के शब्दों में गाँधी के धर्म का सार बतलाना चाहें तो कह सकते हैं—साईं सेंती साँच रहु औरां सूँ सुध भाइ। परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणि मात्र के साथ शुद्ध व्यवहार—यह धर्म का सार है। इसको काम लाने के उपाय देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं परन्तु यह मूलधर्म स्वयं बदल नहीं सकता। कबीर सब धर्मों से पाखण्ड को हटाकर धर्म के इसी शुद्ध स्वरूप को लोगों के सामने रखना चाहते थे और गाँधी भी धर्मों के आवरण की ओर दृष्टिपात न कर इसी मूलतत्त्व की ओर दृष्टिपात करते हैं। इसी कारण सब धर्म और सब धर्मप्रवर्त्तकों में उनकी श्रद्धा का कारण यह है कि वे उसी में इस सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन पाते हैं। वह उनकी दृष्टि में सार्वभौम अथवा विश्वधर्म है। गाँधी जात-हिन्दू है सही परन्तु उनकी आत्मकथा से पता चलता है कि उन्होंने हिन्दुत्व को अपने लिए फिर से ढूँढ़ा है—हिन्दुत्व की जो विशेषता गाँधी जी को हिन्दुत्व के क्षेत्र में रख सकी है वही जात-मुसलमान होने पर कबीर को हिन्दुत्व

---

1. उनका जीवन ही राममय है, उनके कृत्य प्रार्थना रूप। जैसे कबीर अजपा जाप के द्वारा साँस-साँस में राम-राम का जप करना विधेय समझते हैं, उसी प्रकार गाँधी भी। कबीर कहते हैं—'सहस इक्कीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै।' *क.ग्रं.*, पृष्ठ 109, 619। उसी प्रकार गाँधी जी का कहना है—'रामनाम कए इकतारा तो चौबीसों घंटे सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से चलते रहना चाहिए। 'हरिजन बन्धु' में ब्रह्मचर्य शीर्षक निबन्ध, कल्याण भाग-14, पृष्ठ 14 पर उद्धृत।

के क्षेत्र में खींच लाई थी। कबीर हिन्दू भावनाओं और आदर्शों से इतने ओत-प्रोत थे कि मिस्टर विल्सन को यहाँ तक सन्देह हो गया कि हो न हो कबीर किसी हिन्दू सुधारक का उपनाम मात्र है।

गाँधी और कबीर दोनों कथनी और करनी में पूर्ण साम्य के समर्थक हैं, जो वे कहते हैं, वहीं करते भी हैं। वे मन, वचन और कर्म सब में सामंजस्य बनाए रखते हैं। जीवन की यही शुद्धता जिसको वे लक्ष्य करते हैं, वाणी तक सीमित नहीं। वे उसे रहकर दिखाते हैं। यही कारण है कि उनके विरोधी को भी उनकी सत्यता में अविश्वास नहीं होता और यही कारण है कि जगत् के कोने-कोने में उनकी सत्य प्रसारक वाणी श्रद्धा के साथ सुनी जाती है।

गाँधी के हरिजन आन्दोजन का आरम्भ कबीर ने ही कर दिया था। कबीर के लिए 'हरिजन होने से बढ़कर जाति नहीं—हरिजन सर्वों न जाति।' इसलिए शूद्रों को उन्होंने हरिजन बनने का आदेश दिया। गाँधी भी उन्हें हरिजन कहकर यही जता रहे हैं कि हरिजन का पद सब जातियों से ऊपर है। पर कबीर ने हरिजन शब्द को शूद्र का पर्याय नहीं बनाया है। सब शूद्रों को हरिजन न कहते हुए भी उन्होंने शूद्रों को नीच समझने के लिए हिन्दुओं को ख़ूब फटकारा है।

जनता गाँधी को विशेष कर स्वराज्य-आन्दोलन के नायक के रूप में जानती है, परन्तु उनका स्वराज्य भी आध्यात्मिक है। जनता का भौतिक स्वराज्य तो उसका एक बाहरी लक्षण मात्र है। स्वराज्य में उनका मूल अभिप्राय अपने स्व के ऊपर यम, नियम, शम, दम के द्वारा राज्य करना है। इन्द्रियों को वश में कर काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि षडरिपुओं के प्रभाव से बाहर निकल कर स्वराट् होना ही असली स्वराज्य है। इनके प्राप्त हो जाने पर देश का स्वराज्य अपने आप साथ लगा चला आएगा। इसी शर्त पर उन्होंने एक वर्ष के भीतर स्वराज्य ले आने का आश्वासन दिया था। परन्तु उनकी शर्त असम्भव-सी थी। सब का गाँधी होना, स्वराट् होना असाध्य है। उसी से लोगों की आशा पूरी नहीं हुई और चाहे जो हो, गाँधी जी के लक्ष्य के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर ने भी शुद्ध संयत जीवन के द्वारा आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करने की प्रेरणा जन समाज को दी थी।

गाँधी जी ने अपने अहिंसा सिद्धान्त द्वारा भारत के राजनीतिक जीवन में जिस सरलता, पवित्रता और ऋजुता को लाने का प्रयत्न किया है उसके सम्बन्ध में सन्देह की जगह नहीं और मानव जाति के जीवन के लिए जो महान् सम्भावनाएँ दिखला दी हैं उनका तो कहना ही क्या है? यह कहने के लिए उनके वास्तविक

क्रियात्मक उपायों का अनुमोदन करना आवश्यक नहीं है। गाँधी की शिक्षा आतंकवादी युवकों को सन्मार्ग पर लगाने का आज एक प्रधान साधन है। केवल राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों को सुलझाने में भी सत्याग्रह के सिद्धान्त को काम में लाया जा सकता है। चाहे व्यक्तिगत व्यवहार हो, चाहे राष्ट्रीय और चाहे अन्तर्राष्ट्रीय, गाँधी बतलाते हैं कि यदि सत्य पर सदैव दृष्टि रखी जाए तो ऐसी स्थितियाँ आ ही नहीं सकतीं जो आदमी को एक-दूसरे के खून का प्यासा बना दें। ऐसी दशा में यदि ग़लतफ़हमी हो जाए तो सत्य के न्यायालय में उनका निवारण आसानी से हो सकता है। बुराई का नाश करने के लिए बुरे का शत्रु होना ज़रूरी नहीं है। बुरे का मित्र होकर भी बुराई का नाश कर दिया जा सकता है। सत्य में निष्ठा और असत्य का बहिष्कार—यही एक सीधी-साधी बात है, जिससे मनुष्य जाति के प्रायः सब संकट दूर हो सकते हैं। गाँधी की सत्यनिष्ठा ने उन्हें अमर बना दिया है। यदि मानव जाति उनके सन्देश को ख़ाली सिर झुकाकर ही न सुने, उसे उत्साह के साथ काम में भी लाए तो उसका अस्तित्व धन्य हो जाए। राष्ट्रसंघ यदि इस नीति को सर्वांश में अपना सके तो गैसों, बमगोलों और तोपों का डर ही न रह जाए। प्रवंचना और कुटिलता पूर्ण राजनीति के क्षेत्र में सरल सत्य का इस प्रकार प्रवेश कराने के कारणा महात्मा गाँधी इस युग के ही नहीं, सब काल के सबसे बड़े शान्ति दूत हैं।

लोककल्याण तथा आत्मकल्याण, दोनों की दृष्टि से कबीर और गाँधी दोनों ने ग़रीबों को अपनाया है। दैन्य, ग़रीबी, आध्यात्मिक-जीवन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है—गोलमेज़ कान्फ्रेन्स के दिनों जिस समय गाँधी जी लन्दन में ग़रीबी पर व्याख्यान दे रहे थे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उनके मुख से कबीर बोल रहे हैं। आध्यात्मिक अर्थ में अर्थ संकट का नाम ग़रीबी नहीं है, जो मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध उसके ऊपर आ गहराती है। वह तो एक स्वयं आमन्त्रित अवस्था है जिसमें मनुष्यत्व अपने को शून्य में परिणत कर देता है। ग़रीबी में गर्व के बिना आत्मप्रतिष्ठा, मूर्खता के बिना सरलता और गुलामी के बिना विनय प्रतिष्ठित है। इस ग़रीबी में धन के प्रति एक मानसिक समस्थिति रहती है, जिसके सन्तोष और त्याग दो पक्ष हैं। कबीर और गाँधी के समान दीन न अर्थाभाव से दुःखी हो सकते हैं और न धनागम से भयभीत। धनाभाव से दुःख उसी को हो सकता है जो धन में ही सुख की अवस्थिति मानता है और जो जानता है कि आते हुए धन को नाव में भरे आते हुए पानी के समान दोनों हाथों से परोपकार के लिए उलीच देना चाहिए, वह धन के आने से भयभीत क्यों होने लगा? यह ग़रीबी मनुष्य को परावलम्बी नहीं,

स्वावलम्बी और उद्योगी बनाती है।

कबीर स्वयं करघे पर कपड़ा बुना करते थे। महात्मा गाँधी का चरखा परिश्रम की आवश्यकता का ही द्योतक है। वह सब उद्योगों का प्रतीक है। स्वदेशी आन्दोलन वस्त्र से आरम्भ हुआ है इसलिए चर्खे का प्रतीक गृहीत होना स्वाभाविक ही था। फिर भी क्या यह आश्चर्यजनक संयोग नहीं कि गाँधी जी के हाथ से राष्ट्रीय जीवन में तथा राष्ट्रीय पताका पर एक ऐसा प्रतीक प्रतिष्ठित हुआ जिसका कबीर के आनुवंशी पेशे से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है? क्या गाँधी के चरखे का कबीर के करघे से कोई सीधा लगाव है? औद्योगिक उत्थान को गाँधी वास्तविक सुख और शान्ति का प्रसारक बनाना चाहते हैं। नामदेव और त्रिलोचन की जीवनी से जो शिक्षा प्राप्त की थी—

हाथ पाँव कर काम सब चित्त निरन्जन नालि।
नामा कहै त्रिलोचन मुखा राम सँभालि॥ *(योग प्रवाह)*

उलटबाँसियाँ

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के अनुसार कबीर की उलटबाँसियों तथा सिद्धों की सन्ध्याभाषा में दूर का सम्बन्ध है। फिर भी इन दोनों में महान अन्तर है। उलटबाँसी का असत्याभास भी होना आवश्यक है। किन्तु सन्ध्याभाषा के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। उलटबाँसी में वह प्रयत्क्ष अर्थ जो साधारणत: वास्तविक स्थिति या व्यवहार का विपरीत प्रदर्शन हुआ करता है, श्रोता को चकित कर देने का एक साधन होता है और इसके द्वारा उसके मौलिक एवं गूढ़ अभिप्राय को ग्रहण कराया जाता है, किन्तु सन्ध्याभाषा में जहाँ एक सन्धि दो प्रकार से आती है। सन्धि किसी श्लेष के रूप में अथवा सन्धि किसी गूढ़ लक्ष्य के रूप में, वहाँ ही इसका असली रूप दीख पड़ता है। (सन्ध्याभाषा, जिसके प्रकाश व अन्धकार सम्बन्धी दो रूप होते हैं।) बात यह है कि इसका उद्देश्य प्रकाशमय अथवा दार्शनिक अर्थ तथा अन्धकारमय अथवा दुराचार मूलक कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाला अभिप्राय भी बतलाना था और अपनी पतित अवस्था में आकर इसका दार्शनिक संकेत उक्त अनैतिक विधियों को छिपाने के लिए एक बहाना मात्र रह गया।

सहजज्ञान

बुद्धि के क्षेत्र को नीचे छोड़कर निर्गुणी सन्त भी अनुभूति के इसी राज्य में प्रविष्ट होने का दावा करता है। जहाँ उसे एकमात्र परम सत्ता का साक्षात्कार होता

है। अगर टेनीसन की एक पंक्ति को उद्धृत करें तो कह सकते हैं—स्थिर सूक्ष्म सत् गम्भीर तत्त्वों की उसे संवेदना हुई है। (दि स्टिल सिरीन ऐब्स्ट्रैक्शन्स ही हैथ फ़ेल्ट—दि मिस्टिक) बिना इस अनुभूति ज्ञान के दर्शनशास्त्र एक विवाद मात्र है। परन्तु जैसा सुन्दरदास ने कहा है—'जाके अनुभव ज्ञान बाद में न बह्यो है।' दूसरों से सुनकर हमें यह विदित हो सकता है कि परमात्मा हमारे भीतर निवास करता है परन्तु यदि हमें इस तथ्य का वास्तविक अनुभव नहीं तो इस वाचिक ज्ञान से हमारा लाभ ही क्या हो सकता है? (ऊपर की मोहि बात न भावै, देखे गावै तो सुख पावै। *क.ग्रं.*) सार वस्तु अनुभव है जो हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में हमारा प्रवेश हो तभी हमें स्वानुभव से मालूम हो सकता है कि वस्तुतः हमारे भीतर ही ब्रह्म की सत्ता है। इसी को निर्गुणी सन्त सहज ज्ञान कहते हैं, जिसकी ऊँचाई तक चढ़ जाना उन्होंने आवश्यक बताया है। कबीर कहते हैं—

हस्ती चढ़िया ज्ञान का, सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, पड्या भुषै झष मारि॥

दादू ने भी कहा है—

दादू तरवर सहज का, तामें प्रेम तरंग।
तँह मन झूलै आतमा, अपने साईं संग॥

दादू के शब्दों में सहज बिना आँखों के, बिना अंग वाले ब्रह्म को देखना, उससे बिना जिह्वा के बातें करना, बिना कान के उसकी बातें सुनना और बिना चित्र के उसका चिन्तन करना है। *(हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय)*

आचार्य कवि केशवदास

कल्पना की बेपर की उड़ानें अलबत्ता केशव ने खूब मारी हैं। जहाँ किसी की कल्पना नहीं पहुँच सकती, वहाँ उनकी कल्पना पहुँच जाती है। उनकी उत्कृष्ट कल्पना के नमूने *रामचन्द्रिका* के किसी भी पन्ने को उलटकर देखने से मिल सकते हैं। यहाँ एक-दो ही उदाहरण काफ़ी होंगे।

लंका में आग लगी है—

कंचन को पंघल्यो पुर पूर पयोनिधि में पसर्‍यो सो सुखी ह्वै।
गंग हजारमुखी गुनि केसो गिरा मिली मानो अपारमुखी ह्वै॥

अग्नि के बीच बैठी हुई सीता को देखकर उद्दीप्त हुई केशव की कल्पना अत्यन्त चमत्कारिक है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि संग्राम की भूमि में चण्डिका सी।
मनो रत्न सिंहासनस्था सची है, किन्धौ रागिनी राग पूरे रची है॥

पुस्तक में आगे पढ़ते चले जाइए, सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा पर इनकी कल्पना मस्तिष्क की उपज है, हृदयजात नहीं। इसी से कभी-कभी इन की कल्पना ऐसे दृश्यों को अलंकार रूप में सामने लाती है, जिनसे प्रस्तुत वस्तु का असली स्वरूप कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता, पर जिसे प्रत्यक्ष करना अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु के बीच केवल किसी बात में बाहरी समानता ही न होनी चाहिए, उन दोनों को एक समान भावनाओं का उद्भावक भी होना चाहिए। यदि आप मुलायम मलमल की श्वेतता की उपमा देते हुए बरसात की धुली हड्डी से उसकी समानता करना चाहें तो कहाँ तक उसके प्रति लोगों की रुचि को आकर्षित कर सकेंगे? हाँ, मक्खन के साथ उसकी समानता करने से अवश्य यह काम हो सकता है। मक्खन कोमल और श्वेत होने के साथ-साथ प्रिय वस्तु है जबकि हड्डी कठोर तो है ही घृणा भी पैदा करती है। केशव का बालारुण को देखकर यह सन्देह करना कि—

कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।

हड्डी वाली उपमा ही के समान है।

इसके साथ सन्देहालंकार के जो और पक्ष हैं और जो एक उत्प्रेक्षा है, वे इसके विरोध में कितने मनोरम हैं—

अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय,
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय।
परिपूरण सिन्दूर पूर कैंधो मंगल घट,
किन्धौ शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूष पट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैन्धों लसत दिग्भामिनि के भाल को॥

बस इस एक पंक्ति ने सारा गुड़ गोबर कर दिया है। कहीं-कहीं तो प्रस्तुत वस्तु ऐसे अरुचिकर रूप में हमारे सामने आती है कि केशव की रुचि पर तरस आए बिना नहीं रहता। वे एक जगह रामचन्द्र की उपमा उल्लू से दे गए हैं—

बासर की सम्पति उलूक ज्यों न चितवत।

और कहीं-कहीं पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु में कुछ भी समानता नहीं होती, केवल शब्द साम्य के आधार पर अलंकार गढ़ लिए गए हैं। पंचवटी का वर्णन लीजिए। बताइए कि अर्जुन से अर्जुन पेड़ का, भीम से अम्लवेतस का, सिन्दूर

के तिलक से सिन्दूर के पेड़ का और दूध पिलाने वाली धाय से धाय के पेड़ का क्या सादृश्य है? सिवाय इसके कि कोश में एक शब्द दोनों का पर्यायवाची मिलता है। इससे यदि किसी का जी खिलवाड़ करने का करे तो उसका इसमें क्या दोष? 'जाको देन न चहै विदाई, पूछै केशव की कविताई'—का यही रहस्य है।

(मकरन्द से)

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय*—डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
2. *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ*—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
3. *सूरदास*—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
4. *रूपक रहस्य*—डॉ. श्यामसुन्दर दास एवं डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद।
5. *संक्षिप्त रामचन्द्रिका*—लाला भगवानदीन एवं डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद।
6. *गोरखबानी*—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
7. *योग प्रवाह*—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सम्पादक डॉ. सम्पूर्णानन्द, काशी विद्यापीठ।
8. *मकरन्द*—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, (सं.) डॉ. भगीरथ मिश्र, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
9. *डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध* (सं.) डॉ. गोविन्द चातक, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. *गद्य सौरभ*—सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस।
11. *दिवंगत हिन्दी सेवी* (भाग-2)—श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन', शकुन प्रकाशन, नई दिल्ली।

12. *हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास,* (भाग-13)—डॉ. लक्ष्मी नारायण *'सुधांशु',* नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
13. *हिन्दी साहित्य का इतिहास*—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।
14. *आधुनिक हिन्दी लेखन की ऊर्जा*—डॉ. विष्णुदत्त राकेश, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।
15. *गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ* (भाग-2)—श्री भक्तदर्शन, चुक्खू वाला, देहरादून।
16. *कबीर ग्रन्थावली*—डॉ. श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
17. *उत्तरी भारत की सन्त परम्परा*—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
18. *उत्तर भारत के निर्गुण पन्थ साहित्य का इतिहास*—डॉ. विष्णुदत्त राकेश, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
19. *भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश* (भाग-2)—डॉ. रामविलास शर्मा, किताबघर, नई दिल्ली।
20. *हिन्दी साहित्य कोश* (भाग-2)—डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
21. *हिन्दी साहित्य का अतीत* (भाग-2)—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणीवितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी।
22. हस्तलिखित ग्रन्थों का खोज विवरण—खण्ड 14, 15, 16 त्रैवार्षिक विवरण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

□

डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का जन्म 13 दिसम्बर 1901 को लैन्सडाउन से लगभग तीन मील दूर बसे कोडियापट्टी के पाली नामक ग्राम में हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिन्दी), एल.एल.बी. तथा डी.लिट् की उपाधि प्राप्त कर वे वहीं प्राध्यापक हो गये। वे हिन्दी में डॉक्टरेट पानेवाले पहले विद्वान् थे। अंग्रेज़ी तथा संस्कृत के असाधारण विद्वान् होने के कारण उनके अध्ययन, अनुसन्धान तथा लेखन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। पराधीन भारत में हिन्दी-शोध को उनके असाधारण श्रम, योग्यता तथा विद्वता ने प्रतिष्ठित किया। उनका शोध प्रबन्ध *निर्गुन स्कूल इन हिन्दी पोएट्री* शैक्षिक अनुसन्धान के क्षेत्र में मील का पत्थर है। डॉ. श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. धर्मवीर भारती तथा डॉ. प्रभाकर माचवे ने उनकी शोध-स्थापनाओं और सामग्री का पर्याप्त लाभ उठाया। उन्होंने कबीर को पूर्ववर्ती सिद्ध सम्प्रदाय से जोड़कर इतिहास की अन्तर्वर्ती धारा को पाटने का काम किया। *रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, गोरखबानी, योगप्रवाह* तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के खोज-विवरणों का सम्पादन-टिप्पणी लेखन उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

डॉ. बड़थ्वाल ने हिन्दी शोध की आधारशिला तब रखी, जब हिन्दी में सन्तबानियाँ प्रकाशित नहीं थीं। उन्होंने ही सर्वप्रथम उद्घोष किया था कि नाथ, सिद्ध और सन्तकवि उपनिषदों के घाट पर बहते योग-प्रवाह में डुबकी लगाकर खड़े हुए हैं। उनके शोध प्रबन्ध की देश-विदेश के विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी।

डॉ. बड़थ्वाल के गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबन्धों में निहित शोध सम्पुष्ट मान्यताओं ने हिन्दी साहित्य की आदिकालीन काव्यधारा की खाइयों को पूर्ण किया। उन्होंने इतिहास की लुप्त कड़ियों की खोजकर साहित्यिक प्रवृत्तियों की अखण्ड परम्परा को स्थापित किया तथा पूर्ववर्ती एवं समकालीनों द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहास की स्थापनाएँ और मान्यताएँ संशोधित कीं। वे गढ़वाली कला, लोक साहित्य, पत्रकारिता तथा आध्यात्मिक दर्शन के पुरोधा कहे जा सकते हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय डॉ. बड़थ्वाल की प्रमुख कार्यस्थली रहा, पर अर्थाभाव, अनवरत श्रम, ऐकान्तिक साधना और उत्पीड़न के कारण से विक्षिप्तता की स्थिति में जा पहुँचे तथा नियति से जूझते हुए 24 जुलाई 1944 को दिवंगत हुए।

इस विनिबन्ध के लेखक **डॉ. विष्णुदत्त राकेश** भारतीय विद्याओं तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के हिन्दी विभाग में आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। आपने वेदों के हिन्दी काव्यान्तरण के साथ *देवरात* और *नभग* जैसे दार्शनिक और कलात्मक खण्ड काव्य लिखे हैं। *देवरात* पर मध्यप्रदेश शासन का भवानीप्रसाद मिश्र अखिल भारतीय पुरस्कार प्राप्त डॉ. राकेश की प्रमुख आलोचना पुस्तकों में *उत्तर भारत के निर्गुण पन्थ साहित्य का इतिहास, तुलनात्मक साहित्य शास्त्र, आचार्य कुलपति मिश्र, रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन, आचार्य श्रीचन्द्र की विचारधारा, आधुनिक हिन्दी लेखन की ऊर्जा, पन्त का सत्यकाम स्वामी, श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख* तथा *हिन्दी शब्दशास्त्र* विशेष उल्लेखनीय हैं।

ISBN : 81-260-1217-X
मूल्य : पच्चीस रुपये